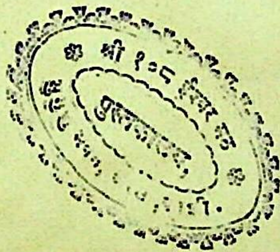








चित्तसम्बोधनम्

हिन्दीभाषानुवादसहितम्

श्रीहिमगिरि–मूर्धन्य–सौम्य–काशी–निवासिना

श्रीमदात्मानन्दस्वामिना सम्प्रणीतम्

अनेकग्रन्थरचयित्रा हिन्दी वाचस्पतिना

दार्शनिकेन

पण्डित श्री शिवनारायण शर्मणा

अनूदितं संशोधितञ्च

कलकत्तानिवासिना—

श्रेष्ठिश्रीघासीरामजी गोयेनका महोदयेन

स्वीयधनव्ययेन मुद्रापयित्वा प्रकाशितम् पञ्चशतसंख्यकम् (५००)

प्रथम संस्करण ४०००] [१९९६ वि. सं.

प्रकाशक—
श्रीमान् सेठ घासीरामजी गोयेनका
गणेश भवन, कलकत्ता।

पुस्तक मिलनेका पता—
श्रीमान् सेठ घासीरामजी गोयेनका
नं० ३७३, अपर चितपुर रोड,
कलकत्ता।
१९३९ ई०

मुद्रक—
दुलीचन्द परवार
जवाहर प्रेस
१६११ हरीसन रोड,
कलकत्ता।

मेरे दो शब्द

इस सृष्टिके आदि-अन्त-रहित प्रवाहमें मानव समाज ही एक ऐसा समाज है जो सृष्टि-निर्वाह के लिये जन्म-सिद्ध साधारण ज्ञान-प्राप्तिके अलावे अपने प्रयत्न और परिश्रमके द्वारा ज्ञान-विकाश की ओर आगे बढ़ता चला जा रहा है। ज्ञान-विकाशकी यह शक्ति सृष्टिमें मनुष्य को ही प्राप्त है। उसके ज्ञान-विकाश की थाह अथवा इयत्ता नहीं हैं, उसकी अगणित धाराएँ हैं और उनमें प्रत्येक धाराकी सीमा अलक्षित है।

कोई भी यह दावा नहीं कर सकता है कि वह किसी विषयके ज्ञानकी हद पर पहुंच गया अब आगे उसमें विकाश प्राप्त करनेका अवकाश नहीं है, अब शून्य ही शून्य है।

अपने ज्ञान-विकाशके अनुसार विचार-धाराएँ भी मानव समाजकी विभिन्न तथा अगणित हैं और तद-नुसार लोगोंकी प्रवृत्ति भी अलग अलग स्वभाव-सिद्ध है।

आज जो आदर्श प्रतिभा-सम्पन्न प्रभावशाली एवं परम श्रद्धेय व्यक्ति हैं वही किसी समय अन्य लोगोंके समुज्वल ज्ञान-विकाश के आगे अमान्य और उपहासास्पद हो जाते हैं। आज जिससे लोग प्रेम करते हैं कभी उसीसे द्वेष भी करने लग जाते हैं।

सृष्टिमें कुछ भी वस्तु तारतम्य या वैषम्यसे रिक्त नहीं है। महान् से महान् या अणु से अणु जो सृष्टिके अन्दर उपलब्ध होते हैं उनकी महत्ता या अणुता भी सीमा को पार करनेवाली नहीं कही जा सकती है।

इस प्रकार के सार्वजनीन अटल तर्क और अनुभवके आधार पर जब कि—कला-कौशल, साहित्य-संगीत, अर्थशास्त्र-नीतिशास्त्र आदि सांसारिक मनोरञ्जक और आकर्षक वस्तुओंके ज्ञानकी अन्तिम अवधि पर पहुँचना भी मनुष्यके लिये जीवन भर अथक पुरुषार्थ चालू रखने पर भी सुलभ और संभव नहीं है, तब संसारके परे नीरस, शुष्क और दुर्ज्ञेय ब्रह्म-विवेक या आत्म-विचारकी पराकाष्ठा पर पहुँचना मनुष्यके लिये कहाँ तक संभव हो सकता है। जो कहने और समझनेमें भी महान्

कठिन प्रतीत होता है, जिसे समझनेके लिये उपयुक्त और पर्याप्त शब्द भी नहीं मिलते हैं। हमारे ऋषि-महर्षि गण शास्त्रोंमें अपने अपने गम्भीर विचार-विमर्शके द्वारा आखिर उस ब्रह्म या आत्माको अकथ्य, अचिन्त्य, अगम्य, शब्दातीत तथा स्वप्रकाश कह कर मौन तथा सन्तोष जब धारण कर लेते हैं तब उसके संबन्धके ज्ञान-विकाश या विचार-धाराकी असीमता और अनन्तता मानव समाजके लिये बिलकुल स्वाभाविक और अवश्यं-भावी हो जाती है, उस विषम स्थितिमें मनुष्यके ज्ञान-विकाश या विचार-धारामें मत–भेद होना अनिवार्य और प्रकृति-सिद्ध है।

इस विचार-धारामें किसी व्यक्तिकी किसी हद तक पहुँच होती है तो किसी की कुछ आगे हद तक पहुंचका प्रसार होने लगता है जैसे असीम और अगाध आकाशमें उड़नेवाले पक्षी गण आकाशकी अन्तिम सीमा पर नहीं पहुंचते हैं किन्तु अपनी अपनी शक्तिके अनुसार उड़ कर जहां तक जिसकी पहुँच होती है वहीं तक पहुंच कर लौट जाते हैं और वहांसे आकाशकी असीमता और अनन्तता

का अन्दाज लगा कर मौन और सन्तोष धारण कर बैठते हैं वैसे ही इस गहन विषयके विचार-विमर्शमें आज तक लोगोंका अपना २ पुरुषार्थ चालू रहा है और वह प्रत्येक पुरुषार्थ अपने २ स्वरूपमें सर्वथा रमणीय और प्रशंसनीय है।

ब्रह्म-ज्ञान या आध्यात्मिक-विकाशका अन्तिम तत्त्व-निष्कर्ष भी केवल युक्तिवाद या तर्कके आधार पर ही कैसे किया जा सकता है क्योंकि तर्क या युक्ति मानव-कल्पित सृष्टिके अन्दर है, उसका तारतम्य या वैषम्य स्वाभाविक है, उसका सन्दिग्ध और भ्रान्त होना भी अस्वाभाविक नहीं, आज वह स्थिर तथा मान्य है तो कल वह दूसरोंके प्रबल युक्तिके आगे अस्थिर तथा अमान्य हो जाता है। समयकी कोई निश्चित अवधि नहीं है और पृथ्वी बहुत बड़ी है। आज जिस तर्कवाद का आविष्कार नहीं हुआ है उसका भी कभी होना संभव है क्योंकि तर्क मनुष्यकी बुद्धि-शक्ति या ज्ञान-शक्ति पर अवलम्बित है और उस ज्ञान शक्तिका आनन्त्य तथा वैषम्य प्रत्यक्ष सिद्ध है।

इस प्रकारकी गवेषणासे यह निश्चित होता है कि अलौकिक विषय—ब्रह्म या आत्मा के संबन्धमें किसी प्रकारके ज्ञान या विचारका केवल तर्कवाद या युक्ति के आधार पर निर्णय कर सन्तोष कर लेना उपयुक्त और लाभ-प्रद नहीं हो सकेगा, उसके जरिये वास्तविक लक्ष्य से वञ्चित रहना और पतनोन्मुख होना अनिवार्य है अतः वास्तव ब्रह्म-विवेक या आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके उपयुक्त साधन हमारा वेद्-शास्त्र या श्रुति-शास्त्र है जो मनुष्य-कल्पित नहीं होने से अभ्रान्त तथा निर्दुष्ट है।

जैसे अनादि कालसे यह विश्व-निर्माण चला आ रहा है वैसे ही उसके अन्दर मानव-सृष्टि और उसके स्वाभाविकताके अनुकूल विकाश-तारतम्य तथा उसके साधनका भी निर्माण अनादि कालसे ही चला आ रहा है और अनन्त काल तक रहेगा, वही मानव समाजके ज्ञान-विकाशका साधन वेद्-शास्त्र या श्रुति शास्त्र है।

किसी वस्तुका सच्चा स्वरूप एक ही रूपका रहता है उसके भिन्न-भिन्न रूप कल्पित रहते हैं और उसके सच्चे स्वरूपका ज्ञान ही उसका वास्तव ज्ञान कहलाता

है, वह ज्ञान एक ही प्रकारका होता है क्योंकि उसके विषयका वास्तव स्वरूप एक ही है। यद्यपि उसके कहने और समझानेकी शैली अनेक प्रकारकी हो सकती है, किन्तु किसीमें विषयके स्वरूपका अपलाप और असमानता नहीं रहती है, उसी ज्ञानसे उस लक्ष्यका यथार्थ पता चलता है अतः वही ज्ञान सबके लिये उपादेय है और कल्पित ज्ञान सन्दिग्ध-भ्रमात्मक संभावित होनेसे उसके जरिये लक्ष्यकी प्राप्ति असंभव है। तर्कके आनन्त्यके आधार पर अगणित प्रकारके विभिन्न जो ज्ञान प्राप्त होते हैं वे सब कल्पित हैं।

रज्जुका जो स्वरूप है वह एक ही है, उसका वास्तविक ज्ञान रज्जुका प्रत्यक्ष करना भी एक ही है, उसे सर्प, दण्ड आदि की कल्पना अथवा धारणा करना भ्रमात्मक और रज्जुके स्वरूपसे वञ्चित रखने वाला अतएव वह हेय है।

आजतक जितने मनुष्य-कल्पित तर्क हुए हैं और उन तर्कोंके द्वारा जो कुछ नवीन आविष्कार हुआ है वे सब हमारे वेद-शास्त्रके बाहर नहीं हैं। उन सबकी झलक

वेदमें परिलक्षित हो रही है। भले ही हम समुचित शिक्षाके अभावसे उनके उपयोग करनेके ज्ञानसे वञ्चित रहें, उन्हें कार्य-प्रणालीमें प्रात्यक्षिक रूपसे न ला सकें। वे सब वेद-शास्त्रके किसी एक साधारण भागमें पड़े हैं। यों तो हमारा वेद-शास्त्र विशालकलेवर है, समस्त उपलब्ध भी नहीं है फिर भी जो कुछ उपलब्ध है उसमें ही सब प्रकार के विषय, समस्त कला-कौशल सब प्रकारके आविष्कार भरे पड़े हैं।

उसकी परम विशेषता और परम आदर्शता यह है कि उसमें मनुष्य-परिकल्पित तर्क और उसके द्वारा संपादित कार्य-पुञ्जके अलावे उस संघर्षकी निवृत्ति तथा शाश्वत, अनन्त, असीम आनन्द लाभ करनेका ज्ञान और उसके उपाय उसमें बतलाये गये हैं।

वेद या श्रुतिके अनुकूल जो ऋषि-महर्षिके उपदेश स्वरूप विधि-निषेधके प्रक्रियाबद्ध वचन हैं वे हमारे स्मृति शास्त्र हैं और आत्म-तत्त्व सम्बन्धके ज्ञान विकाश तथा उसके द्वारा प्राप्य अनन्त असीम सुखकी प्राप्ति और विश्वके अनिवार्य दुःखोंसे छुटकारा पानेका जो ऋषि-

महर्षिका उपदेश स्वरूप विचारा-धारा है वही हमारा दर्शन शास्त्र है। उसकी महत्ताके संबन्धमें अन्य देशवालों का भी मतभेद नहीं है। इन सबका उपजीव्य या सहारा वेद है, ये सब शास्त्र वेदके उपजीवक या आधीन हैं।

अल्पज्ञ मानव समाज अपने आप बहुत कम ज्ञान प्राप्ति कर सकता है। ज्ञानका अधिकांश विकाश उसे अपने पूर्ववर्त्ती विद्वानों, साधु-महात्माओंके द्वारा वितरित ज्ञान-बोधक ग्रन्थोंसे ही होता है अतः वैसे आदर्श ग्रन्थोंका निर्माण मानव-समाजके ज्ञान विकाशको समुन्नत अवस्थामें निःसंदिग्ध ले जानेवाला सिद्ध हो चुका है।

यह ग्रन्थ-रत्न एक ऐसे ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय महात्माके निजी अनुभव सागरसे निःसृत हुआ है कि इसके प्रवचन मात्रसे भी मनुष्यका कल्याण होना निश्चित है, यह प्रक्रिया-ग्रन्थ नहीं है फिर भी प्रक्रियाके पदार्थसे रिक्त नहीं है। इसमें पहले वैराग्य उसके बाद भक्ति और भक्तिके पश्चात् ज्ञान प्रकरणका समावेश किया गया है। पूर्व-पूर्व प्रकरण उत्तर-उत्तर प्रकरणका साधन माना गया है। सांसारिक विषयोंसे वैराग्य होने पर भगवानकी सच्ची

भक्ति प्राप्त होती है और उसी भक्तिके द्वारा परम श्रेयस्कर ज्ञान प्राप्त होता है।

इस प्रकारके प्रकरण-विन्यास करनेसे भक्तिकी सर्वोच्च महिमा तथा ग्रन्थ-प्रणेता महोदयका भगवानमें अविचल परम प्रेमका होना साबित होता है।

इस ग्रन्थके रचयिता हैं—श्रोत्रिय ब्रह्म-निष्ठ स्वामी श्री आत्मानन्दजी महाराज। ब्रह्म-निष्ठ तथा वेदान्त शास्त्रके पूर्ण विद्वान् संन्यासी होते हुए आप भगवान के अनन्य भक्त हैं। आप आदर्श विरक्त तथा परम दयालु व्यक्ति हैं। जैसे आपका त्याग ऊंचा है वैसे ही आपकी मिलनसार प्रवृत्ति भी परोपकार करनेमें अतिशय दक्ष है।

इस पुस्तकमें अनेक जगह एक ही विषय प्रायः दुहराया गया है यह पुनरुक्ति दूषण नहीं, किन्तु आलस्य दोष-निराकरण करने और अभ्यास-दाढ्र्यके लिये श्रुतिमें भी इस प्रकारके संसारके परे गहन विषयकी पुनरुक्ति भूषण ही मानी गयी है। इस ग्रन्थके अध्ययनसे साधा-रणसे साधारण जिज्ञासु लोगोंको भी संसारकी विन-

श्वरताका अनुभव होने लगता है और उससे ग्लानि हो जाती है। ब्रह्मविवेक स्वरूप लक्ष्य पर जानेके लिये भगवद्भक्ति रूपी निश्चित मार्ग पर मनुष्य आरूढ़ हो जाता है जिससे समस्त पाप और विक्षेपके लीन हो जानेसे वह निर्मल और प्रसन्नचित्त हो जाता है, पश्चात् वह अनायास ब्रह्मविवेक या आत्म-विकाशकी सीमा पर पहुंच जाता है। विद्यालय और महाविद्यालयके कितने अध्यापक और प्रिन्सपल महोदयके इस ग्रन्थके अनुवाद करनेकी अभिलाषा जताने पर भी आपने स्वयं कलकत्ता आकर इसके हिन्दी भाषामें अनुवाद करने और संशोधन करनेका समस्त भार मुझे दे कर अपनी जो असीम अनुकम्पा मेरे ऊपर दिखायी है उसका मैं चिरकृतज्ञ हूं।

स्वामीजीके इस महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थके हिन्दी भाषामें आद्यन्त अनुवाद करके मैं अपनेको कृतकृत्य मानता हूं तथा निर्विघ्न समाप्तिके लिये भक्तवत्सल श्री गणेश भगवानको अनेकानेक प्रणाम करता हूं।

यद्यपि अनुवाद करनेमें कहीं अक्षरार्थके ख्याल करने और कहीं भावार्थके ख्याल करनेमें अनुवादक पूर्ण स्वतन्त्र

है, यह उसके विचार पर निर्भर है, जहां पर जैसा वह उचित समझता है वहां पर वैसा ही विशद या संक्षेपमें मूल अर्थका अनुवाद करता है किन्तु इस पुस्तकमें प्रायः दो एक जगह छोड़ कर सर्वत्र अक्षरार्थका ही ख्याल किया गया है।

किसी भी पुस्तकके प्रकाशनमें मुद्रण आदि जन्य सर्वाङ्ग सुधार प्रायः अवशिष्ट ही रह जाता है, यह पुस्तक भी उससे रिक्त नहीं, तदर्थ शुद्धाशुद्ध पत्र तथा सहृदय पाठकोंकी कृपा-पूर्ण दृष्टि ही पर्याप्त हो सकती है।

अनुवादक—
पं० श्री शिवनारायण झा
दार्शनिक (मिथिला)
मो०—माउवेहट, पो०—पुतैइ
जि०—दरभंगा।

श्रीः

भूमिका

श्रीपरमेश्वरप्राप्त्युपायभूतात्मदर्शनोत्पिपादयिषया पूर्वाचार्याः सकललोकानुजिघृक्षया अमितविस्तृतान् अतिसङ्क्षिप्तांश्च ग्रन्थान् परश्शतान् यथाधिकारि निबबन्धुः। ते च ग्रन्थाः अनेकानसारसंसारसागरनिमग्नान् इतः मुमुक्षून् उदधीधरन्। परन्त्विदानीं कुटिलकलौ कुतर्कनिष्पीतान्तःसाराणां मुकुलितान्तःकरणानां जनानां न पूर्वमिव तेषामुपयोग इति न परोक्षं प्रेक्षावताम्। अतएवेदानीन्तनानां परिनिष्ठितवाङ्मयेन स्वल्पेन समयानुसारेण हृदयग्राहितदुपदेशमिच्छतां गृहिणामपि चिरमनोरथं समपूपुरदिदं ग्रन्थरत्नम्। तपः पूर्णानुभवितुरुपदेशो यथा हृदयं प्रविश्य फलेन संयुनक्ति न तथा तदितर इति न क्षेपामपि करपिहितमिव। अस्मिन् ग्रन्थरत्ने मनः संबोध्य निखिलमभिधित्सितं तत्त्वं समुपादिशद्ग्रन्थकारः। कल्पनाशीलं

मन एवानवच्छिन्नोदासीनपरमानन्दघनैकरसे चिदात्मनि निर्मलाकाशे कुहकमिव द्वैतजातं प्रकल्प्य पुरुषं प्रमाद्य चिरं तातपीतीति सर्वानुभवसिद्धम्। तदेव दुःखमूल-कल्पनानिविवृत्सायै प्रबोधनीयमिति सर्वथा समुचितस्त-दधिकृत्य सदुपदेशः। सर्वस्य चिरायापेक्षितममूदृक्षं सङ्क्षिप्तोपदेशनिबन्धं श्रीमन्तोऽन्वितार्थनामानस्त्यागैकरसाः श्रीयुतात्मानन्दमहात्मानो निर्माय समधिकमन्वग्रहिषुः।

एतस्य महात्मनः श्रुतिसुखासेचकं सुचरितं शुश्रूषुकस्य सचेतसः शुभंयुहृदयं न स्यादित्यवधायानुभावि-भव्याय च संक्षिप्य तदिह निरूपये प्रभूतोपचिकीर्षया।

अथास्यागरामण्डलमण्डनस्य महाभिजनस्य महात्मनो-मायामयविश्वविनश्वरविविधविषयरसनेषु विरसं परमे-श्वरविकश्वरपादपङ्कजपरागरसनेष्वतिरसिकञ्च जन्मनः प्रभृत्येव मनः स्वयमासीत्। बालक्रीडोचितकाल एव पूर्वजन्मोपार्जितसुकृतपरिपाकवशात् भगवद्भक्तिरसामृतोर्मि-सिक्तसूक्तश्रवणादिषु चिरं चेतोऽन्वराङ्क्षीत्।

बालक्रीडोपनीतविविधप्रतिमासु प्रत्यभिज्ञाय प्रतिकृतिं पिनाकिपुण्डरीकाक्षयोः समादरेण विविक्तोचितदेशे समा-

नीय यथावगतपूजाप्रकारैर्भक्तिपूर्णप्रणतान्तःकरणेन चिरमार्जिहदसौ। सदाचारविनयमाधुर्यवात्सल्यसत्यशौचशान्तिक्षमादिनिखिलोपादेयगुणैः परिपूर्णोऽसाधारणोऽयं पुरुषधौरेयो भवितेति जनैः सुखेन समज्ञायि।

पित्रादिप्रेरणया ग्रामीणबालकविद्यामन्दिरेषु गुरूपदिष्टं पाठं बालकैरितरैः सह समभ्यस्य परीक्षावसरे अभ्यासपरिपाकेन सद्व्यवहारेण च सर्वानत्यशेत। अवशिष्टसमये परमार्थविषयं स्वयं व्यचीचरत्। एवं क्रमेण कियन्तं कालमतिवाह्य शनैः शनैः परागविषयेषु चेतोऽपारजत। अथ परमार्थोपदेशजिघृक्षायै समुत्सुकमस्य चेतः किन्तु गुरोरपिज्ञानात् क गच्छामि कं पृच्छामि किं करोमीत्यादिचिन्तया भृशमन्तरन्वताप्सीत्। अनन्तरमेकदा पवित्रतीर्थादिदिदृक्षया तत्र महात्मानो नूनं मिलिष्यन्ति समुपदेक्ष्यन्ति च नो निस्ताराय सन्मार्गमित्याशया च गोवर्द्धनगिरिमभिप्रतस्थे। तत्र महात्मानं श्रीगंगावक्समहोदयं सङ्गत्य प्रणतिप्रवणेन मूर्ध्ना प्रणम्य च सप्रश्रयमपृच्छत्। भगवन्नस्ति कश्चनोपायः संसारार्णवसन्तरणस्य? यो भगवद्भक्तिप्रतिपत्तिपरश्च स्यात् प्राचीनपवित्रचरिता-

नुष्ठितोऽस्मत्सुकरश्च । समाकर्ण्य चेदं सस्मेरमुखः स महात्मा अल्पवयसोऽनास्वादितसंसाररसस्यातएवानवाप्तै-तत्कटुरसविपाकस्येदृशः प्रश्नो नूनमावेदयति पूर्वापूर्वप्राग्र-हरतामिति गुरुप्रसीदता मनसाऽन्तः प्रशस्य समुदतीतरत् ।

अयि आयुष्मन् ? कौमारावस्थायामेव कथमीदृशः प्रश्नः ? इदानीमपरविद्याभ्यासप्रभवापूर्वप्रज्ञोपार्जितप्रभूत-सम्पदा पूरय पित्रोः प्रमोदम्, कुलञ्च समुत्कर्षं प्रापय, प्रतिष्ठापय च चिरम्, गार्हस्थ्याश्रमस्वीकारेण ऋणत्रयम-पाकुरु, मित्राणि संतोषय शत्रून्निर्मूलय, ततश्चरमे वयसि श्रावयिष्यामि ते समीहितमित्यवोचत् ।

अयञ्च तदुपदेशमङ्गीकृत्य यावत्सन्तानोदयं गृहस्था-श्रमेऽरंस्त । ततो विषयव्यावृत्तमनाः पूर्वाश्रमात्पुनरुपरम्य तमेव गुरुमुपससाद विनयेन व्यजिज्ञपच्च । इदानीं ब्रह्मविद्या-मनुशाधि मामनन्यगतिकं संसारदावानलसन्तप्तम् । स च महात्मा चरमे वयसि शिक्षणीयोऽसि कुटुम्बपालनमिदानीं कुरु इति प्रोवाच ।

भगवन् को जानीयात् कस्य वयः कदा चरमं भवेत् । एवमाशावतः पर्यन्ते शुभमनुतिष्ठासोर्मध्ये एवायुषः समाप्तौ

सर्वे शुभसङ्कल्पा दरिद्रमनोरथवदेकपदे लीयन्ते । तस्मात् "गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेदि" ति न्यायेनादावेव कृतिनः स्वसमुद्धाराय प्रयतन्ते । अतएव शुकवामदेवादयो-महर्षयो जन्मानन्तरमेव प्रवव्रजुरिति न्यवेदयत् । एवं श्रुत्वा प्रहृष्टान्तरात्मा महात्मा सदुपदेशं विधाय सञ्जात-दृढविषयवैराग्यभावनमेनं श्रीपूज्ययोगानन्दस्य महात्मन-स्सविधे प्राहिणोत् । स च महात्मा चित्तैकाग्र्योपयिकं योगमुपदिदेश ।

एतेन दीक्षितः शिक्षितश्चायं ज्ञानपिपासुरुत्तरकाश्यां पूज्यपादतपोवनमहाराजेभ्यो ब्रह्मविद्यां समार्जिजत् । अद्यावधि च तानेव सेवमानोऽहर्निशं तदुपदेशदिशा आत्मानन्द आत्मना आत्मनि रमते ।

विविधानवद्यविद्याविनयविवेकापनीताजेयविषयवासनः सत्यशमदमादिसाधनोपनीतपरमार्थपरिशीलनप्रबुद्धशुद्धमा-नसः परमहंससरणीरपायणोदासीनादीनमानसोऽयं स्वा-मिप्रवर आत्मानन्दः स्वानुभूतमशेषक्लेशविश्लेपसाधनमर्थं

निखिललोकोपकृतये ग्रन्थे समुद्दङ्कय सर्वत्र प्रचिचारयिषया तममुद्रयत्। अनेन च लोको बहूपकृतः स्यादित्याशास्ते।

महामहोपाध्यायः
पं० हरिहरकृपालु द्विवेदी
प्रधानाचार्यः

काशी
अक्षयतृतीया
१६६६

पण्डितपञ्चानन, विद्यारत्नाकर,
विद्यानिधि, पण्डितविभूषण,
तर्कालङ्कार विद्यासागर
इत्याद्युपाधिविभूषितः

प्रस्तावना

अहो ! खल्वीश्वरेच्छाया अकुण्ठिता विचित्रा च गतिः । अघटितमपि सुघटितमातनोति सा । ईश्वरेच्छाहि मूकं वाचालं करोति, पङ्गुञ्च पर्वतमधिरोहयति, कुचेलञ्च कुबेरं विदधातीति नैतत्तिरोहितं विदुषां विचिन्तनशीलानाम् । तथाच मामपि ग्रन्थकारमकरोदीश्वरेच्छेति किमाश्चर्यन्तत्र । अहो ! क्वाहमल्पमतिरकृतकाव्यशास्त्रादिव्यवसायः, क्च महाशेमुषीसम्पन्नानां पण्डितप्रकाण्डानामपि महाऽभ्याससाध्या ग्रन्थकरणकला । तथाविधमतदर्हमपीमं जनं महत्तरं ग्रन्थकारपदमधिरोहयितुमीश्वर ऐच्छदिति का नाम तत्राघटितता । अहो ! ईश्वरेच्छाया अघटितघटनापटीयस्त्वम् ।

अथातिसङ्क्षेपतोऽस्माकं ग्रन्थकृत्पदाधिरोहणकथा कथ्यतेऽत्रपाठकानां पुरतः । यथाप्रतिभं सुरसरस्वत्यामनुभवपराणि लघुतराणि वाक्यानि विलिख्य संग्रहीतव्यानीति मे मतिरुदभूत् । स्वान्तर्विनोद एव तत्र नान्यः

कश्चन हेतुरासीन्मम । ततश्च तादृशानि कतिपयानि वाक्यानि विलिख्य सम्मत्यर्थं गुरुपादपरमपूज्यश्रीतपोवनस्वामिपादानुपागच्छम् । ते च तानि दृष्ट्वा सुष्ठु सुप्रसन्ना अभवन् । अथ चैतादृशानि वाक्यानि पृथग् विषयनिर्देशेनाधिकृतया विलिख्य संग्रहीतुं प्रयत्नमाधत्स्वेति सप्रमोदाश्चाज्ञापितवन्तः । ततो मया वैराग्यविषयमधिकृत्य किञ्चित् किञ्चिदिव प्रतिदिनं तादृशानि वाक्यानि विलिखितुमारब्धानि । प्रतिदिनमेवविलिखितस्यांशस्य संस्करणसंशोधनादिकञ्च स्वामिचरणैस्तत्क्षणमेव कृतमासीत् । तथाच तस्य प्रथमप्रकरणस्य परिपूर्तिरुत्तरकाश्यां श्रीविश्वनाथचरणसविध एव समभूद्यथाकालम् ।

श्रीस्वामिचरणाः प्रतिसंवत्सरं चातुर्मास्यकरणार्थं श्रीगङ्गोत्तरीधाम नियमतो व्रजन्त आसन् । ते खलु तं नियममनुरुन्धानाः सौम्यकाशीतः श्रीगङ्गोत्तरीं प्रति प्रस्थितवन्तः । अयं जनोऽपि बहुकालादारभ्य गङ्गोत्तरीं गन्तुं तत्र किञ्चिदनेहोऽतिवाहयितुं चाभिलाषुक आसीत् । महान्तं पुण्यपरिपाकमन्तरेण तादृशस्य पुण्यसङ्कल्पस्य पूर्तिर्न सम्भवत्येव । तथा च पूर्वसुकृतनिचयपरिपाकेना-

म्वायाः कृपया च गङ्गोत्तरीगमनायाहमपि निष्प्रतिबन्धतया समर्थोऽभवमस्मिन्नब्दे। अविलम्बितमेव गङ्गोत्तरीं गत्वा तस्याः सेवनं श्रीगुरुभगवतां सङ्गतिश्चान्तर्यामिणोऽनुग्रहेण कर्तुमारभेस्म। श्रीस्वामिपादानां सविध एवोत्तरकाश्या-मुद्देशतोऽष्टवर्षेभ्य आरभ्य विविधानां वेदान्तग्रन्थानाम-ध्ययनंकुर्वाणो यथाविधि वर्ते साम्प्रतम्। सटीकशाङ्करभा-ष्यसहितस्य वृहदारण्यकस्य श्रीब्रह्मसूत्रस्य च तेषां सविध एवाध्ययनंसम्यगसम्पादितम्। अपिच संस्कृतभाषापरिशी-लनादिकमपिविशेषतस्तेषां द्वारेणैव तत्र मया कृतमासीत्। अहोखलु विद्वज्जनानां सङ्गमाहात्म्यम्।

यथोक्तम्—"काचः काञ्चनसंसर्गाद्द धत्ते मारकतीं द्युतिम्।
तद्वत्सज्जनसंसर्गान्मूर्खो याति प्रवीणताम्॥" इति।

एतादृशेन श्रीस्वामिनां सङ्गमाहात्म्येनातुलितकृपया च भागीरथ्या भक्तिज्ञानात्मकं विषयद्वयं विषयीकृत्या-न्यदपि प्रकरणद्वयं गङ्गोत्तर्यां प्रतिदिनं किञ्चित् किञ्चिदिव विलिख्य सम्पादयन्नासीदयं जनः।

अथ पतितपाविनी पुराणप्रसिद्धा श्रीगङ्गोत्तरीभूमि-श्चैतद्ग्रन्थविलेखने:ममातिमात्रमुपकारिण्यासीदिति विशेषतो

वक्तव्यं प्रतिभाति । सर्वदा पवित्रतराणां भावानां समुत्पादनेऽस्या भूमेः सामर्थ्यमनितरसाधारणमित्यनुभवसिद्धोऽयमंशः । सत्यमुक्तं श्रीस्वामिपादैः श्रीगङ्गोत्तरीक्षेत्रमाहात्म्यप्रस्तावनायाम् :—

"अथ किंलक्षणकं पवित्रं क्षेत्रमित्याकाङ्क्षायामिदं वदामो यदकृच्छ्रेणैव पवित्रभावभावकत्वं तल्लक्षणमिति ।" इत्यतिचञ्चलाऽपवित्रा मनोगतिरपि स्वरसेनात्रातिनिश्चलातिपवित्रा च सम्पद्यते । आत्माभिमुख्यात्मरतिश्च भवत्यनायासेन । अनवरतमुपश्रूयमाणः श्रीगङ्गायाः प्रणवध्वनिः सर्वानप्यनात्मभावान् सहसा तत्र निरुणद्धि । किञ्च परिपूतममरदुर्लभममरसरितोऽमृतमयं जलमपि स्नानपानाभ्यां तदुपसेवमानस्य शारीरिकं मानसिकञ्च मालिन्यमशेषतोऽपमार्जयति सद्य एव । अहो ? ऋषिसङ्घजुष्टायाः श्रीभगीरथतपोभुवः श्रीगङ्गोत्तरधरण्या अध्यात्मभावप्रसारणमाहात्म्यम् ।

एवं तीर्थानामपि तीर्थस्य पुण्यभूमेः श्रीगङ्गोत्तर्या अध्यात्ममाहात्म्यमतितरामन्वग्रहीत् पुण्यभावप्रजननेनेमंजनमिति मन्ये धन्यमात्मानमिमं ग्रन्थञ्च । एवं क्रमशः कतिचिद्दिनेषु प्रकरणद्वयमप्यत्र गङ्गोत्तर्यां समाप्तिमगमत् । अथचैवं प्रकरणत्रयस्य प्रणयनानन्तरं केवलं बुद्धिविनोदाय सङ्कलितस्याप्यस्य यदि ग्रन्थरूपेण प्रकाशनं क्रियते तर्हि

मुमुक्षुजनानामवश्यं महानुपकारः कृतः स्यादिति बहूनां महात्मनामादेशमनुसृत्यैवमस्य प्रकाशनार्थं प्रयत्नः कृतो मया ।

अथ निखिलदर्शनतन्त्रस्वतन्त्रो वेदान्तशास्त्रनिष्ठो-विद्वत्संसदि लब्धप्रतिष्ठोमिथिलामलंकुर्वाणोऽनेकग्रन्थ रचयिता, अनुवादशैलीनव्यभव्यतापादकः पं० श्री शिव-नारायण शर्मा ग्रन्थमशेषमिमं हिन्दीभाषायामनूद्याद-सीयसंशोधनमपि स एवाकार्षीदिति तस्मै समोदं सह शुभाशंसया सहस्रशो धन्यवादाः प्रदीयन्ते । प्रकाशकेभ्यो महोदयेभ्यश्च शुभाशीर्वचनमुपहृष्यामि ।

अत्रचाज्ञानेन वाऽनवधानतया वा यदि शाब्दिक-मार्थिकं वा किमपि स्खलितं प्रयुक्तमुपलभ्यते, तर्हीयं बालकरचनेति मत्वा—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

इति न्यायमनुसृत्य च विद्वांसस्तत् क्षन्तुमर्हन्तीति शम् ।

साधुजन—
चरणचञ्चरीकस्य
स्वामिन आत्मानन्दस्य

श्रीगङ्गोत्तरी
२०—८—३८

श्रीः

वन्दे कुन्देन्दुधवलदन्तभिन्नान्तरायकम् ।
दानधारापतद्भृङ्गसङ्गतं कुञ्जराननम् ॥

इदानीं कलियुगावेशवशात् खिलीभूते वेदादिसच्छास्त्रप्रवाहे, कलुषीकृते च मनुजचेतसि, विरलीभूते च गुरुशिष्यपारम्पर्ये, कान्दिशीके च जनसमाजे, कामलोभाद्यभिभूते च शास्त्रचिन्तकचेतसि को वा कमुपदिशेत्, को वा किं शृणुयात् ? शिष्यचित्तसंतापहारका गुरवो विरलाः, शिष्यवित्तापहारकास्तु बहवः। ये किल "निर्मूलितविषयाशा निस्त्रैगुण्यात्मरमणबद्धाशाः शारीभवद्दशाशाः शांता भुवि शेरते गलत्पाशाः" त एव हि परानुपदेष्टुमर्हाः भारतभूमेरयमखण्डितो महिमा यदेतादृशा गुरवो विरला अपि न सर्वथोच्छिन्नाः, नैतेषां समुत्सादो भारतभूमौ सम्भवति । यतः—"तारकस्योपदेशेन गुरुर्भूत्वा विमुक्तिदः । काश्यामपीश्वरस्तस्मादीश्वरादधिको गुरुः ॥" यस्य महिमा खलु ईश्वरमहिमानमप्यतिशेते, न तस्य समुत्सादः कथमपि भवितुमर्हति भारतेवर्षे ।

श्रीमद्भिर्महाभागैरात्मानंदस्वामिभिर्विरचितं वैराग्य-भक्ति-ज्ञानोपदेशात्मकं चित्तसम्बोधनाख्यं निबन्धमालोच्य स एव विश्वासो दृढतरो जायते यत् तादृशा धरणीतल-पावना महान्तो नेदानीमपि विलुप्ताः। एतेषां महाभागा-नामलङ्कारभारविधुराऽपि हृदयहारिणी शब्दजालैरजटि-लाऽपि सुप्रसन्ना विषयवासितचेतसामपि चेतांसि प्रक्षालयन्ती केषां न बहुमता भारती। निबन्धेऽस्मिन् पाण्डित्यप्रख्यापनप्रयासलेशोऽपि नास्तीति महद्धि गौरवं निबन्धॄणाम्। विकरालेऽस्मिन् कलिकालेऽविद्धकर्णा बधिरा एव प्रायेण जनाः, के वा तादृशा दयालवो ये सदुपदेशामृतेन तान् श्रोत्रलाभफलं प्रापयेयुः को वा— "सर्वतः परिधावन्तं मनोमत्तमतङ्गजम्। ज्ञानाङ्कुशवशं नीत्वा पुनः पन्थानमानयेत्॥" निबन्धमिमं निर्माय दयालुभिर्महाभागैर्महदुपकृतम्। एतस्य परिशीलनमजल-मान्तरं स्नानमिति निश्चयो मादृशानाम्। रहस्यमपरिज्ञाय साधनान्यनुतिष्ठतामपि फलं फल्गु यथा—"मत्स्यःस्नानपरः फणिः पवनभुङ्मेषस्तु पर्णाशन" इति न्यायेनानुतिष्ठ-तामपि शुभं कर्म न फलाय स्यादिति कर्मणां वैराग्ये तस्य

भक्तौ तस्याश्च ज्ञाने पर्यवसानं प्रतिपादयन्तो निबन्धारो महाभागाः सर्वेषामेव श्रद्धेया अकारणबान्धवाश्चेति विश्वासोऽस्माकम् ।

महामहोपाध्यायः
श्रीयोगेन्द्रनाथशर्मा
तर्कवेदान्तसांख्यतीर्थः
राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयाध्यापकश्च (कलकत्ता)

श्रीः

देशकालपात्राण्येवानुसरन्ति सर्वाणि कार्याणि। तत्रापि पात्रस्यैवातिप्रधानत्वे न कस्यापि सदसद्विवेकिनो विदुषो वैमत्यम्। पात्रवैकल्पप्रयुक्तमेव सिद्ध्यभावमाधुनिका अपि समुद्गिरन्ति देशोपकारकरणैकतानाः। अद्यावधि ये ते यावन्तोऽपि निबन्धाः निःश्रेयससाधनौपयिकीभूता लभ्यन्ते, ते सर्वेऽपि कुटिलकरालकलिकालाजगरनिगीर्णानां नष्टचेतनानां जनानामिदानीन्तनानां बोधवैधुर्यादेव पात्राणां न साधयन्ति समीहितमिति सुचिरं सुनिपुणं विविच्यैव सूक्ष्मेक्षिकया सम्यङ्निरीक्ष्यैव च यावद्दुर्बोधव्यपायक्षमं षड्वर्गभीषणभुजङ्गमवनीभूतायामज्ञानान्धकारसमाच्छादितायामस्यां जगत्यां दीपस्थाने तड्दीप इव मणिस्थाने महामणिरिव परमकारुणिकेनात्मबोधैकरसेन शुभोदयेन श्रीयुतात्मानन्दमहोदयेन सङ्क्षिप्तमपि विस्तृतविवरणमिव सारल्यादनायासेन बोधसाधकं ग्रन्थरत्नं चित्तसम्बोधनं नाम निरमायि। यत्र खेलन्तोऽप्यनायासेन श्रुत्वैव तादृशदुर्ज्ञेयं दुर्निवारज्ञानप्रसरैरपि दुरधिगममुपनिषत्सारसर्वस्वभूतं विषयमधिगमिष्यन्तीति किम्बहुना।

पं० रघुनन्दन त्रिपाठी
व्याकरणोपाध्यायः। साहित्यतीर्थः
कल्याणपुरम्, गया

श्रीसाम्बशिवाय नमः ॥

॥ वाङ्मुखम् ॥

परमात्मा प्रतिसृष्टि लोकानुद्दिधीर्षुश्चतस्रो वेदसंहिता आविष्कुर्वन् विराजते ता अङ्गप्रत्यङ्गाद्युपबृंहिताश्च विदधाति। अत्र कारणं तस्य कारुण्यम्। महर्षि-शाण्डिल्येन स्वसूत्रे समुक्तं "मुख्यं हि तस्य कारुण्यम्।" लौकिकविषयेषु प्राणिनां स्वाभाविकी प्रवृत्तिस्तत्र नास्ति शास्त्रापेक्षा। पारलौकिकचिन्ता च विरला। तत्र प्रायशो-मानवा न प्रसज्जन्ते। तदर्थं शास्त्रज्ञानमावश्यकम्। तच्च कठिनायाससाध्यम्। स्वल्पे लोकाः प्रयतितुं समर्थयन्ते। सरलेव सङ्क्षेपेण च रूपेण तच्चिन्तनं भवितुमर्हति। सर्वशास्त्रसारभूतं पद्धतित्रयं कर्मज्ञानभक्तिरूपं समीचीनं विभाति। भक्तिः कार्यादिसाध्यत्वात् कर्मान्तर्गता। अतोऽस्मिन् ग्रन्थे न तस्य पार्थक्येन विचारणा। भक्ति-ज्ञानवैराग्याणां वर्णनं माधुर्यप्रसादगुणशालि सुकुमार-मतीनामपि ग्रहणयोग्यमत्रास्ते।

एतद्ग्रन्थपठने प्रेक्षावतां मनुजानां चितमाकृष्टमिव

वशीभूतमिव जायते । ज्ञानवैराग्यप्रकरणे दुरूहे अपि प्रतिपादनशैल्या पाठकानां कृते सुखसम्वेद्यतां सम्पादयतः ।

भक्तिकाण्डं मनोहरति कोविदकलापानाम् । जानन्ति वैयाकरणा यद्भक्तशब्दे भजधातोः कर्मणि "क्त" प्रत्ययोऽस्ति । तस्यार्थो निष्पद्यते सेवित इति । नैव सेवक इति वाच्यं भवति । यमौरसपुत्रादिवत् परमात्मा सेवते स वै भक्तः, परब्रह्मप्राप्तभक्तिकाः स्वप्रयत्नलब्धभक्तिकाश्चोभयेऽपि तन्मूर्तयः । केऽपि भक्ताः नावमन्तव्याः । केवलं नामकीर्तनशीला अपि ब्रह्मवादिनो भवन्ति—"कस्य चारु नाम मनामहे ।" ऋग्वेदः "य एनं नाम्ना विदुः ब्रह्मवादिनो-भवन्ति" (तैत्तिरीयारण्यकम्) तदर्पणाखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेतिनारदसूत्रोक्तभक्तिं दधानाः शरणप्रपन्ना इत्युच्यन्ते । तेषां सर्वं कृत्यजातं परमेश्वर एव निष्पादयति । ते च जायन्तेऽङ्कस्थितबाला इव प्रमोदमानाः । एतद्वृत्तं दर्शनशास्त्रानुशीलनलब्धानुभवेन ग्रन्थकारेण श्रीस्वामिनोपन्यस्तं यत् "भगवानपि भक्तस्य भक्तः" ज्ञानप्रकरणं पुस्तकप्रणेतुर्महात्मनो वैदुष्यमुद्घोषयति । ईश्वरानुग्रहं विना कोऽपि तदवबोधं न कारयितुं

शक्नोति। एतत् प्रकरणं दर्शनप्रेमिभिरवश्यं पठनीयम्। श्रद्धाभाजनं भक्तप्रवरं स्वामिनं वन्दमानोऽपि न प्रहृष्यामि तत्कल्याणञ्चेश्वरतः प्रार्थयेऽहम्।

महामहोपाध्यायः
पं० सकलनारायण शर्मा
काव्यव्याकरणसाङ्ख्यतीर्थः

Pandit Shivnarayan Jha, whom I know well, has translated "Chitta Sambodhan" by Swami Atmanandji Maharaj. The translation is true and good. Panditjee is a good scholar and knows philosophy very well. His translation, I trust would be accepted and valued. I have seen the introduction, which the Panditji is now writing. It is very felicitious reading.

Camp Calcutta
3/6/39

Pt. Nilkantha Das M.A.
M. L. A. (Central)
Editor "Nav Bharat" Cuttack,
(Puri)



श्रीमान् सेठ घासीरामजी गोयेनका

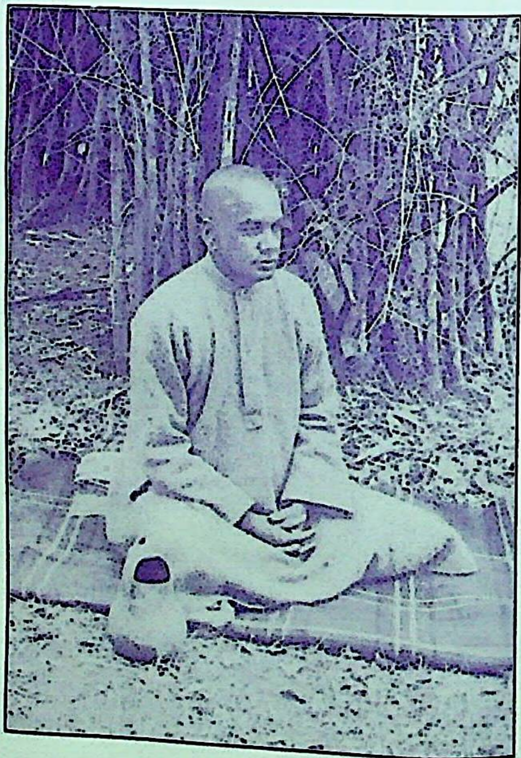
कलकत्ता

शुद्धाशुद्ध पत्र



अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
परिभ्रमतिभवान्	परिभ्रमति	२२	१
स्वरूपवान्	सुरूपवान्	२५	१
लोकपावनाः	लोकपाविन्यः	२८	४
विगतरामो	विगतरागो	३२	२
श्रीकृष्णवचनम्	श्रीकृष्णमुनिवचनम्	३४	१
गर्हाष्पदं	गर्हास्पदं	३५	१
सस	सास	४१	१
मप्युपद्यते	मप्युपपद्यते	५०	७
निर्वृत्तो	निवृत्तो	५४	४
दैहेन्द्रिय	देहेन्द्रिय	२५५	१





अस्मद् विद्यागुरु पूज्यपादश्री १०८ स्वामी तपोवनम्

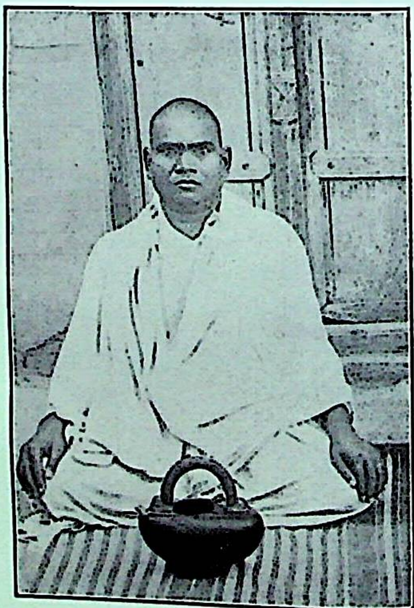
चित्तसम्बोधने—

विषय-सूची

वैराग्यप्रकरणम्—

भक्तिप्रकरणम्—

ज्ञानप्रकरणम्



श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठः परमहंसः स्वामी आत्मानन्दः

ग्रन्थकर्त्ता (उत्तरकाशी वास्तव्यः)



* चित्तसंबोधनम् *

मङ्गलाचरणम् ।

स जयति सिन्धुरवदनो-
देवो यत्पादपङ्कजस्मरणम् ।
वासरमणिरिव तमसां-
राशिं नाशयति विघ्नानाम् ॥ १ ॥

जिनका मुख हाथीका है और जिनके चरण कमलके स्मरण करनेसे सारे विघ्न विलीन हो जाते हैं, जैसे सूर्यसे अन्धकार विलीन होते हैं, उन गणेश भगवानकी विजय है अर्थात् उनकी मैं वन्दना करता हूं ॥ १ ॥

वारिदाभं गले गङ्गावारिगौरं कलेवरे ।
वारणाद्रिपतिं वन्दे वारणाजिनवाससम् ॥२॥
गङ्गे मातरनुस्मरामि सततम्
त्वन्मूर्त्तिमत्यद्भुतां-
दैवीं दैवतदुर्लभाञ्च यमुना-
वागन्नपूर्णादिकम् ।

जिनका कण्ठ मेघके समान काला है । शरीर गङ्गाजलके समान सफेद है । बाघम्बर धारण करनेवाले उन कैलासपति की मैं वन्दना करता हूं ॥ २ ॥

हे गङ्गे मातः ! आपकी जो यमुना, सरस्वती और अन्नपूर्णा आदि देव-दुर्लभ, अति विचित्र, अलौकिक मूर्तियां हैं, उन्हींका मैं सदैव चिन्तन करता रहता हूं ॥ ३ ॥

भक्तेनाथ भगीरथेन भगवत्-
पादैश्च पादार्चकै-
र्या नित्यं समुपाश्रिता विजयते
गङ्गोत्तरीसद्मनि ॥ ३ ॥

भगवत्पादपादाब्जद्वन्द्वं द्वन्द्वनिवर्हणम्।
सुरेश्वरादिसद्भृङ्गैरवलम्बितमाभजे ॥ ४ ॥

हे गंगे! आपकी जिस मूर्तिकी आराधना भक्त भगीरथने की थी और आपके चरणोंकी पूजा करनेवाले पूज्यपाद श्री श्रीशंकराचार्यने जिस मूर्तिकी आराधना की थी, जो मूर्ति गङ्गोत्तरी में नित्य विराजमान है, उस मूर्तिकी विजय है अर्थात् उस मूर्तिकी मैं वन्दना करता हूं ॥३॥

संसारके दुःख-द्वन्द्वको हटानेवाले भगवान् श्रीशंकराचार्यके चरण कमलकी मैं वन्दना करता हूं, जिस चरण कमलकी आराधना सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य आदि महात्माओं ने की है ॥ ४ ॥

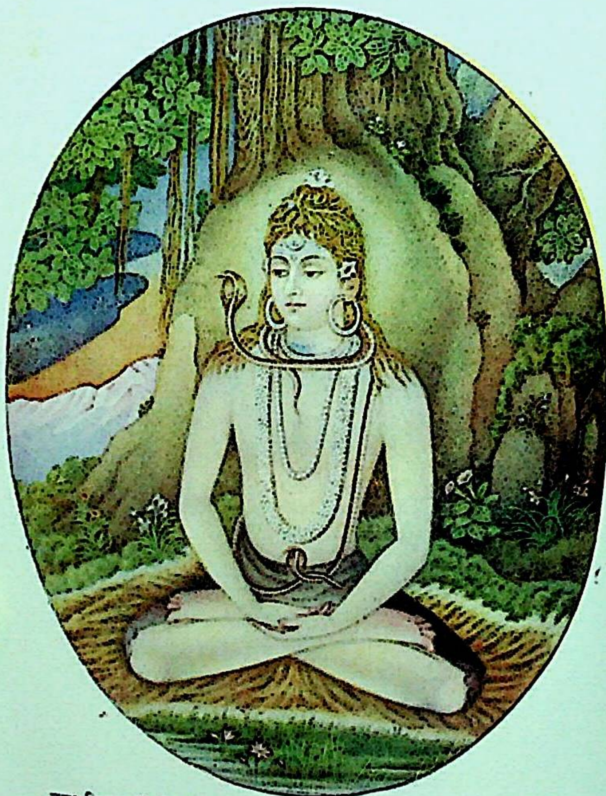
दीक्षागुरुं नमस्कृत्य दक्षान् विद्यागुरूंस्तथा ।
किञ्चिच्चर्चां करिष्येऽहं किञ्चिज्ज्ञोऽन्तस्सुखाय मे ।५।

दीक्षा (मन्त्र) गुरु और सुयोग्य विद्या-गुरुओंको प्रणाम करके मैं अल्पमति हो कर भी आन्तरिक सुख-प्राप्तिके लिये अपना कुछ विचार प्रगट करता हूं ॥ ५ ॥





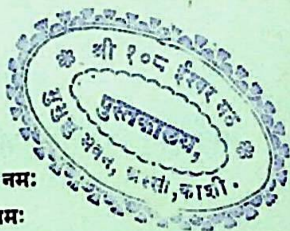
सदाशिव



नमः शिवाय निःशेषक्लेशप्रशमशालिने । त्रिगुणग्रन्थिदुर्भेद्यभवबन्धविभेदिने ॥

THE GITA PRESS GORAKHPUR.

No. 1031.



श्री विश्वनाथाय नमः
ॐ श्रीगङ्गायै नमः

वैराग्यप्रकरणम्



"भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं-
मौने दैन्यभयं वले रिपुभयं रूपे जरायाभयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं-

विषय भोग करनेमें रोगका भय लगा रहता है। उच्चकुलकी प्राप्तिमें उसके पतनका डर लगा रहता है। धन होने पर राजाका भय होता है। मौन धारण करनेमें दीन बननेका डर रहता है। वल-प्राप्ति होने पर शत्रुओंका डर रहता है। सौन्दर्य आदि रूपमें भी बुढ़ापाका डर रहता है। शास्त्रमें भी विवादका भय है। गुणमें दुष्टों का और शरीरमें यमराजका भय है। संसारमें जितने पदार्थ हैं, सबमें भय लगा ही रहता है।

सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।"
"वैराग्यशतकम्'

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोड़शीं कलाम्॥"
"शान्तिपर्व"

रे चित्त! कुत्र धावसि। वैराग्यं भज। चिंतां त्यज। विश्रान्तिं व्रज। सर्वे विषयाःसाति-

---

मनुष्योंके लिये केवल वैराग्यमें कुछ भय नहीं है॥
"वैराग्य शतक"।

तृष्णाके विलीन होने पर जो सुख प्राप्त होता है उसकी सोलहवीं कलाके बराबर भी ऐहलौकिक विषय-सुख और पारलौकिक महान् सुख भी नहीं है॥ "शान्ति पर्व"

अरे चित्त! तुम कहां दौड़ते फिरते हो। तुम वैराग्य धारण करो। चिन्ताको छोड़ो। विश्राम लो। सांसारिक पदार्थ मात्र न्यूनाधिक्यसे ग्रसित

शयाः सर्वे विषयाः क्षणभंगुराः सर्वे विषयाः दुःखप्रदा बन्धकाश्चेति नितरां निश्चिनु। विषगर्भितमोदकोपमास्त इति जानीहि। एवं विषयेषु दोषान् पश्य। दोषान् दृष्ट्वा तानशेषतस्त्यज। तत्र तृष्णामुत्पाटय। तृष्णायाः फलं दुःखमेवेति विजानीहि। तृष्णा न कदाऽपि सुखहेतुर्भवति। तस्माद्विषयगर्तेषु मा

है अर्थात् सांसारिक पदार्थ किसीसे छोटा और किसीसे बड़ा होता है, सबसे बड़ा नहीं हो सकता है। सारे पदार्थ क्षणिक हैं। स्थायी नहीं हैं। सब पदार्थ जीवके लिये दुःखप्रद और बन्धप्रद हैं यह अच्छी तरह जानो। जहरसे मिले हुए मोदककी तरह परिणाम में वे भयंकर हैं यह जानो। इस प्रकार विषयोंमें दोष दर्शन करो और दोष दर्शन करके उन विषयोंका सर्वथा परित्याग करो। विषयोंकी तृष्णा छोड़ो। तृष्णाका

पत। मोहनिद्रातो जागृहि, जागृहि। अव-हितो भव। तृष्णाक्षय एव सुखहेतुरिति विद्धि। वितृष्णस्य यत्सुखं तत्सुखं नरराजस्य नास्ति तत्सुखं सुरराजस्य नास्ति किमधिकं? हिरण्यगर्भस्याऽपि नास्ति तस्माद्वितृष्णो भव। विषयान् विषवत् परित्यज। त्यक्त्वा च सुखी भव। उक्तं हि—

फल दुःख ही होता है यह जानो। तृष्णा कभी सुखका कारण नहीं है इस लिये तुम विषयरूपी गड्ढे में मत गिरो। मोह-निद्रासे जागृत हो जाओ। सावधान हो जाओ। तृष्णाके नाश होनेसे ही सुख प्राप्त होता है यह समझो। तृष्णा-रहित पुरुषको जो सुख मिलता है वह सुख किसी राजा को प्राप्त नहीं है, इन्द्रको भी नहीं है, कहां तक कहें, ब्रह्माको भी वह सुख नहीं मिलता है इस-लिये तुम तृष्णाको छोड़ दो। विष की तरह विषयों को छोड़ो। उन्हें छोड़कर सुखी हो जाओ। जैसा योगवाशिष्ठ में कहा गया है—

"विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते।
जन्मान्तरघ्ना विषया एकदेहहरं विषम् ॥१॥
यान्येतानि दुःखानि दुर्जराण्युन्नतानि च।
तृष्णावल्याः फलानीह तानि दुःखानि राघव ।२
यावती यावती जन्तोरिच्छोदेति यथा यथा।
तावती तावती दुःखबीजमुष्टिः प्ररोहति।"३इति
"वासिष्ठम्"

"नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति
नात्यक्त्वा विन्दते परम्।

लोग जिसे विष जानते हैं, वास्तवमें वह विष (जहर) नहीं है किन्तु सांसारिक जो धन, स्त्री. पुत्र आदि विषयोंका तारतम्य है वही विष है क्योंकि धन, स्त्री, पुत्र आदि विषय तो दूसरे जन्मोंको भी बिगाड़ देते हैं और विष सिर्फ एक इसी शरीरको विनष्ट करता है ॥१॥

हे राघव ! ये जो दुःख (आध्यात्मिक, आधि-दैविक, आधिभौतिक) प्रबलरूपसे जीवोंको

नात्यक्त्वा चाभयः शेते
त्यक्त्वा सर्वं सुखी भवेत् ॥" इति
"शान्तिपर्व"

रे मनः ! धनादिषु तृष्णां कृत्वा किमर्थं ग्रहाविष्टवदितस्ततः परिभ्रमसि । रे मूढ़ !

बराबर रहते हैं, इनका हटना दुष्कर हो जाता है इसका कारण तृष्णाका प्रवाह है क्योंकि सारे दुःख तृष्णाके फलस्वरूप ही हैं ॥२॥

जीवोंको जितनी-जितनी किसी चीजकी तृष्णा जैसे-जैसे उत्पन्न होती है वह उतनी-उतनी बोयी गयी तृष्णा दुःखके बीजको उत्पन्न करती है ॥३॥

बिना विषयके परित्यागसे जीव सुख प्राप्त नहीं करता है। बिना त्यागसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती है। बिना त्यागसे जीव निर्भय हो कर नहीं सोता है, किन्तु सब विषयोंके परित्याग करने से ही जीव सुखी रह सकता है। "शांति पर्व"

धन आदि विषयोंमें तृष्णा धारण करके ग्रह की फेरीमें पड़ने की तरह तुम क्यों इधर उधर

धनतृष्णां जहीहि । धनस्योपार्जने दुःखं धनस्य रक्षणे दुःखं नाशे दुःखं व्यये दुःखमिति धनं दुःखभाजनं विद्धि । धनं महापातकानां निदानमिति विद्धि । धनेन कामो जायते । धनेन क्रोधो जायते । धनेन महान् गर्वो जायते । धनेनैव लोभमोहादयोऽपि जायन्ते । अहो ! धनस्य दौरा-

भटकते फिरते हो । अरे मूर्ख ! धनकी तृष्णाको छोड़ो ।

धनके उपार्जन करनेमें दुःख है, धनकी रक्षा करनेमें दुःख है, धनके विनाश होने पर दुःख होता है, धनके खर्च होने पर दुःख होता है । इस तरह धन सर्वथा दुःखका कारण है यह जानो ।

महापातकोंका मूल कारण धन ही है यह जानो । धनसे कामनाएं (अभिलाषाएं) उत्पन्न होती हैं । धनसे क्रोध उत्पन्न होता है । धनसे

स्यम्। तादृशे धने त्वं किं शोभनं पश्यसि। तदुक्तम्—

"अर्थमनर्थं भावय नित्यं-
नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः,
सर्वत्रैषा विहिता नीतिः॥" इति
"द्वादशपञ्जारिका"

महान् गर्व उत्पन्न होता है। धनसे ही लोभ, मोह आदि उत्पन्न होते हैं। आश्चर्य धनका बुरा प्रभाव है। ऐसे धनमें तुम क्या रमणीयता देखते हो। कहा गया है–

धनको नित्य अनर्थ जानो यह सत्य है कि धनसे किञ्चित् भी सुख नहीं होता है। धनवानोंको पुत्रसे भी भय लगा रहता है सब जगह यही नियम हैं। "द्वादश पञ्जरिका"

हन्त! हन्त! धनमदरूपिणा महारोगेण समाक्रान्तस्य पुरुषस्य महतीं दुरवस्थां वर्णयति कश्चन कविः—

"बधिरयति कर्णविवरं-
वाचं मूकयति नयनमन्धयति।
विकृतयति गात्रयष्टिं-
सम्पद्रोगोऽयमद्भुतो राजन्!" ॥ इति
"सुभाषितरत्नाकरः"

बड़े खेदकी बात है कि धन-मदरूपी महारोगसे ग्रसित मनुष्यकी कैसी बड़ी बुरी अवस्था होती है। उसका वर्णन किसी कविने किया है—

हे राजन्! यह धनरूपी विचित्र रोग कर्णोंको बधिर बना देता है, वाणीको बन्द कर देता है, आँखोंको अन्ध कर देता है, शरीरको विकृत कर देता है। सारांश यह कि धनवान् पुरुष धन-मत्त हो कर किसीकी प्रार्थना या सदुपदेशको नहीं सुनते हैं क्योंकि धन उन्हें बधिर बना देता है और कुछ याचना करने पर चुप्पी साध लेता है

अहो शृणु! धनिनो दौरवस्थ्यमन्यदपि। धनिनो हन्त राजतो भयं धनिनश्चोरतो भयं धनिनः पुत्रतो भयं धनिनो-बन्धुतो भयम्। हन्त? हन्त? सर्वेभ्यस्तस्य सर्वदा भयमेव भवति। अतश्च सुखेन निद्रातुमपि न लक्ष्मीवान् प्रभवति। अहो! धन्यं

क्योंकि धन उन्हें गूंगा बना देता है और वह गरीबकी तरफ आंख उठा कर नहीं देखते हैं क्योंकि धन उन्हें अन्धा कर देता है। कुछ याचना करने पर धनवानोंका चेहरा उतर जाता है क्योंकि धन उनके शरीरको विकृत कर देता है।

"सुभाषित रत्नाकर"

अजी! धनवानोंकी और भी कैसी बुरी अवस्था होती है यह सुनो। धनवानोंको राजाका भय है, चोरका भय है, पुत्रका भय है, बन्धुका भय है, सबका भय सदा उसे लगा ही रहता है इस लिये धनवान् पुरुष सुखसे सो भी नहीं सकता है। दरिद्र होना ही अच्छा है यह जानो।

धन्यं दारिद्र्यमिति जानीहि। धन्याः खलु ते दरिद्राः ये निश्चिन्ता निर्भयं निद्रासुखमुपभुञ्जते। विविधचिन्ताव्याकुलतया निरयी जन्तुरिव कष्टतराणि क्लिष्टतराणि च दिनानि धनी कृच्छ्रेणातिवाहयति। तादृशे धनित्वेऽतिमात्रजुगुप्सिते त्वं किं शोभनं पश्यसि।

अथ च लक्ष्मीः कुलटेव पुरुषात्पुरुषान्तर-

वे निर्धन ही भाग्यवान् हैं जो निश्चिन्त हो कर निर्भयसे निद्रा-सुखका अनुभव करते हैं। अनेक प्रकारकी चिन्ताओंसे व्याकुल होनेके कारण नारकीय जीवकी तरह धनवान् व्यक्ति अत्यन्त कष्टसे अत्यन्त क्लेशको सहन करते हुए बड़ी मुश्किल से दिनको बिताते हैं। ऐसे अत्यन्त निन्दनीय धनमें तुम क्या भलाई देखते हो?

लक्ष्मी कुलटा (वेश्या) की तरह एकको छोड़ कर दूसरे पुरुषके पीछे दौड़ती रहती है। वह बिजली और दीपशिखाकी तरह अत्यन्त चंचल

मनुधावति। सा तडिदिव दीपशिखेव चातीव चञ्चला। न तस्याः कश्चित् प्रियो भवति। सा गौररण्ये तृणमिव नवं नवं प्रार्थयति पुरुषम्। एष तस्याः स्वभावः। तथाऽपि मूढास्तां स्थिरीकर्तुमिच्छन्ति। ममेति स्वकीयां कर्तुमिच्छान्ति। ते सुरसरित्स्रोत ऊर्ध्वं प्रवाहयितुमिवेच्छन्ति। लक्ष्मीः न कस्याऽपि कदाऽपि स्वकीया भवाति, न दासी भवति। सर्वेऽपि तस्या दासा भवन्ति।

है। उसका कोई भी प्रिय नहीं है। जिस प्रकार गाय वनमें नये-नये तृणकी खोज करती है उसी प्रकार लक्ष्मी भी नये-नये पुरुषको चाहती रहती है। यह लक्ष्मीका स्वभाव ही है तो भी मूढ़ लोग उसे स्थायी रूपसे रखना चाहते हैं। 'मेरी है' इस प्रकार अपनाना चाहते हैं। वे लोग गंगाके प्रवाह को ऊपर बहाना चाहते हैं। लक्ष्मी किसीकी कभी अपनी नहीं है। किसीकी दासी नहीं हैं, सब उसीके दास हैं।

तदुक्तं महाभारते—

"अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्" ।

रे मूढ ! विचारं कुरु । विवेकी भव । धनाशां त्यक्त्वा स्वस्थः सुखी भव ।

एवं स्त्री-सुतादिष्वपि रतिं ममताञ्च परित्यज । नारी नरकाग्नीनामिन्धनमिति जानीहि । कामिनीशरीरे किं शोभनं परि-

---

महाभारतमें कहा गया है कि–

"मनुष्य धनका दास बन जाता है । धन मनुष्यका दास नहीं बनता है" । अरे मूढ़ ! विचार करो । विवेकी बनो । धनकी आशा छोड़ कर शान्त और सुखी बनो ।

धनकी तरह स्त्री, पुत्र आदि विषयों में जो प्रेम और ममत्व है उसे छोड़ो । नरकरूपी अग्नि को प्रज्वलित करनेके लिये स्त्री, इन्धन (लकड़ी आदि जलावन) है यह जानो । स्त्री के शरीरमें

पश्यासि ? कामिनीशरीरं किं त्वं सुन्दरं सुखदं सुधानिष्यन्दि परिपश्यासि ?। अहो ! ते मोहमहिमा। सुन्दरश्चेत् करनखमुखादीनि कचकुचादीनि च पृथक्कृत्य तद्विलोकय। अस्पृश्यानि जुगुप्सितानि मांसास्थीनि तदा त्वं विलोकयिष्यसि।

"एक एव पदार्थस्तु त्रिधा भवति वीक्षितः।

क्या रमणीयता देखते हो ? स्त्री-शरीरको सुन्दर सुखप्रद और अमृतवर्षी क्यों देखते हो ? आश्चर्य यह तुम्हारा मोहका माहात्म्य है।

यदि स्त्री-शरीर तुम्हें सुन्दर प्रतीत होता है तो हस्त, नख और मुख आदि तथा केश (बाल) स्तन आदि अवयवोंको उससे अलग करके देखो तो अस्पृश्य और घृणास्पद मांस, हड्डी ही दृष्टि-गोचर करोगे।

"एक ही पदार्थ (स्त्री-शरीर) तीन तरहसे देखा जाता है क्योंकि योगियों की दृष्टिमें मृतक,

कुणपः कामिनी मांसं योगिभिः कविभिः श्वभिः" ॥१॥ "लिङ्गपुराणम्"

इत्येतद्व्यासवचनमनुस्मर । कामकदर्थितदृष्टयोविण्मूत्रभाण्डमपि कामिनीशरीरं सुरुचिरं पश्यन्ति। काममदिरोन्मत्ताः कामिनीमनुधावन्ति । यथा कामुकास्तथा कामिन्योऽपि विण्मूत्रभाण्डं कामुकशरीरं

कवियोंकी दृष्टिमें कामिनी और कुत्तोंकी दृष्टिमें मांस-पिण्ड देखा जाता है" ॥ १ ॥ "लिङ्ग-पुराण"

व्यासजीके उक्त वचनका मनन करो । कामदेव से जिनकी बुद्धि भ्रष्ट हुई है, ऐसे मनुष्य विष्ठा और मूत्रका बर्तन, जो स्त्री-शरीर है, उसे अत्यन्त मनोहर देखते हैं। कामके नशासे मतवाले हो कर स्त्रीके पीछे दौड़ते हैं। जिस प्रकार कामी पुरुष स्त्री के पीछे लगे रहते हैं, वैसे स्त्री भी विष्ठा और मूत्रका भाण्ड जो पुरुषका शरीर है

सुरुचिरं पश्यन्ति कामुकमनुधावन्ति च। एवं कामुककामिन्योः खरकण्डूयनन्यायेन पारस्परिकः क्रीडनादिव्यवहारः। हन्त! अरे चेतः त्वं विवेचननिपुणमसि। विवेचय बाढम् अहो! इह लोके मोहस्य मूलं नारी, पापस्य मूलं नारी, दुःखस्य मूलं नारी। कलहस्य मूलं नारी, मरणस्य मूलं नारी, परलोके तु नरकस्य मूलं नारी। किमधिकोक्तेन। इहा-

---

उसे अत्यन्त मनोहर देखती है और उसके पीछे दौड़ती है। जैसे गदहोंका एक दूसरोंके खाज करनेका परस्पर व्यापार होता है। उसी प्रकार स्त्री-पुरुष का परस्पर प्रेम-व्यवहार बना रहता है। खेद है--अरे मन! तुझे विवेक करने की शक्ति है। तुम अच्छी तरह विचार करो। इस संसारमें विचित्र मोहकी जड़ स्त्री है। दुःखकी जड़ स्त्री है। कलहकी जड़ स्त्री है। परलोकमें नरक की जड़ स्त्री है। कहां तक कहें, मर्त्य-लोक और पर-लोक दोनों जगह महान् अनर्थ-

मुत्र च महानर्थपरम्पराया एकमूलमियं नारी-
ति निश्चिनु । न सुधानिष्यन्दि किन्तु विष-
निष्यन्दि तन्मुखमिति निश्चिनु । नारीं राक्ष-
सीमिव भयङ्करीं जानीहि । यथोक्तम्ः—

"दर्शनाद्धरते चित्तं स्पर्शनाद्धरते बलम् ।
सम्भोगाद्धरते वीर्यं नारी प्रत्यक्षराक्षसी" ॥इति
"दत्तात्रेयसंहिता"

राशिकी जड़ एक मात्र स्त्री है, इसे निश्चय कर
लो । उसका मुख अमृत-वर्षण नहीं करता है,
किन्तु विषका वर्षण करता है, यह निश्चय करो ।
नारीको राक्षसी की तरह भयंकर जानो । जैसा
कहा है—

"दर्शनसे नारी चित्तको हर लेती है । स्पर्शसे
बलको हर लेती है । संभोग करनेसे शक्तिको
हर लेती है । इस प्रकार प्रत्यक्षमें ही स्त्री राक्षसी
है" ॥१॥ "दत्तात्रेय संहिता"

विवेकनिश्चयाभावात्तादृशललनालालनलम्पटो लोकः परिभ्रमति भवान् । विवेकनिश्चये कृते न तथा स्यात् कदाऽपि । विवेकी न स्वप्नेऽपि ललनायाः क्रीडामर्कटतां गच्छति । सर्वमपि पारतन्त्र्यं सर्वोऽपि संसारः स्त्रीमूलकः । स्त्रीत्यागेन समग्रः संसारः सन्त्यक्तः स्यात् । तथा च स्वतन्त्रः सुखी च भवति पुरुषः । कामोन्मत्तानेव पुरुषान्नारी नर्त्तयति,न कामदोषरहितान् । कामुक

विवेक-निश्चय नहीं होने से स्त्रीके प्रेमासक्त होकर मनुष्य भटकता है । विवेक निश्चय करने पर वैसा कभी नहीं हो सकता है । विवेकी पुरुषको स्वप्न में भी नारी 'बन्दर-नाच' नहीं नचा सकती है । सारी परतन्त्रता, सारे संसार का मूल स्त्री है । स्त्रीके त्याग करनेसे ही समस्त संसारका परित्याग हो जाता है । वह मनुष्य स्वतन्त्र और सुखी हो जाता है । काममत्त पुरुषोंको ही स्त्री नचाती है । काम-रहित पुरुषोंको

एव नारीमुखं सुधाकुम्भमिव शरत्सुधांशुकिरणामिव वा मानिनीचरणसेवनं परमपुरुषार्थत्वेन च पश्यति । अहो ! कामदुर्विलासः ।

अथ च ललनाचित्तमतिलोलं न कस्मिंश्चिदपि पुरुषेऽव्यभिचारितया रममाणं दृश्यते । त्वं तु मूर्खशिखामणिः "इयं मम प्रिया मय्येव प्रेम कुरुते, करिष्यते च नान्यत्रे" त्यभिमन्यसे ।

नहीं नचाती है । अमृतके घड़ेकी तरह और शरत् समयके चन्द्रमाकी किरणकी तरह स्त्रीके मुखको और उसके पाद-सेवनको कामी पुरुष ही परम पुरुषार्थ समझता है । आश्चर्य-जनक कामका बुरा असर होता है। स्त्रीका चित्त अत्यन्त चंचल होता है । उसका चित्त किसी पुरुषमें स्थायीरूपसे रमण नहीं करता है । तुम मूर्खराज हो, क्योंकि यह मेरी प्रिया मुझ से ही प्रेम करती है और भविष्यमें भी मुझसे ही करेगी, अन्य किसीसे नहीं, यह मान बैठे हो ।

"नस्त्रियामप्रियः कश्चित् प्रियोवाऽपि न विद्यते।"

इति हि मुनयो महान्तो गायन्ति।

स्त्रीजनेन वञ्चिताः प्राचीनाः पुरूरवः-प्रमुखा अर्वाचीना भर्तृहरिप्रभृतयश्च वहवो महन्नैराश्यमनुतापञ्चोपगता इतिचेतिहास-प्रसिद्धम्। ततस्तस्मिन् विस्रम्भं कदापि मा कार्षीः। न केवलं कामिनीपुत्रादयो वन्धु-

---

"स्त्रियोंके लिये कोई भी पुरुष अप्रिय नहीं है और प्रिय भी कोई पुरुष नहीं है"। यह महात्मा ऋषियोंने कहा है।

स्त्री से ठगे गये पुरूरवा प्रभृति प्राचीन राजा गण और उनकी अपेक्षा नवीन भर्तृहरि आदि अनेकों राजाओंने भारी निराशा और पश्चात्ताप प्राप्त किया है यह इतिहासमें प्रसिद्ध है। इस लिये स्त्रीमें विश्वास कभी नहीं करना चाहिये। जब तक तुम

वर्गश्च यावत् त्वं स्वरूपवान् गुणवानैश्वर्यवांश्च भवसि, तावत् त्वयि स्वप्रयोजनाय महत्प्रेम प्रकटयन्ति। स्वप्रयोजनाभावे तु मृतशरीरादिव त्वत्तस्ते सर्वे बिभ्यति। त्वां स्प्रष्टुमपि ते नेच्छन्ति। तव निकटेऽपि ते नाऽऽगच्छन्ति। पुत्रः पुत्री च भ्राता भगिनी च बन्धुर्मित्रादिश्च सर्वः स्वार्थरतः। स्वार्थ-

---

रूपवान्, गुणवान्, ऐश्वर्यशाली रहते हो तभी तक स्त्री-पुत्र आदि और बन्धु-बान्धव गण अपने स्वार्थ-सिद्धिके लिये तुम्हारे साथ बहुत ज्यादा प्रेम दिखाते हैं और स्वार्थ-सिद्धि नहीं होने पर तुमसे वे लोग डरने लग जाते हैं। जैसे मुर्देके पास जानेसे डरते हैं। तुझे छूने तक की भी इच्छा नहीं करते हैं। तुम्हारे पास भी वे नहीं आते हैं। पुत्र और पुत्री, भ्राता और बहन बन्धु और मित्र आदि सब स्वार्थमें रत रहते हैं।

भंगे तु न पुत्रः पुत्रः न पुत्री पुत्री च न भ्राता भ्राता च न भगिनी भगिनी च न बान्धवादिर्बान्धवादिश्च भवति। अहो! स्वार्थवैभवविजृम्भणम्।

तदुक्तम्:—

यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारोरक्तः।
पश्चाद्धावतिजर्जरदेहेवार्तांपृच्छतिकोपिनगेहे।१।

"चर्पटपञ्जरिका"

स्वार्थ-भंग होने पर पुत्र भी पुत्र नहीं होता है। पुत्री भी पुत्री नहीं होती है। भाई भी भाई नहीं होता है, बहन भी बहन नहीं होती है, बन्धुवर्ग भी बन्धुवर्ग नहीं होते हैं। स्वार्थका आश्चर्य प्रभाव है। जैसा कहा है—

जब तक धन-उपार्जन करनेकी शक्ति रहती तब तक अपना परिवार-वर्ग प्रेम करता है। और पीछे वृद्ध शरीर होने पर घरमें कोई 'क्या हालत है' यह भी नहीं पूछता है॥ १॥

"चर्पटपञ्जरिका"

तादृशे नारीजने, पुत्रपौत्रादिषु, वन्धुवर्गे चातिमात्रमनुरक्तः सन् तेषां क्षणमात्रवियोगमप्यसहमानो वर्तसे त्वम् । अहो ! महदिदमाश्चर्यम् । तव मोहमाहात्म्याय भूयोभूयो नमस्कारः ।

अथ चासुरी दैवीचेति नारी द्विविधा वर्तते । तत्रासुर्येवोक्तरीत्या पुरुषस्य सर्वानर्थहेतुरिति विद्धि । दैवी तु पुरुषस्य मोक्षहेतुः,

---

ऐसे स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि बन्धुवर्गके प्रेममें सर्वथा मग्न हो कर क्षण मात्र भी उनका वियोग नहीं सहन करते हो, यह बड़ा आश्चर्य है। तुम्हारे मोहकी महिमाको बार-बार नमस्कार है ।

आसुरी और दैवी दो प्रकारकी स्त्री होती है, जिसमें आसुरी स्त्री पुरुषके लिये समस्त अनर्थका कारण है यह पूर्व कथित रीति से जानो । दैवी स्त्री पुरुषकी मुक्तिका कारण बनती है

यथारुन्धतीचूडालाप्रभृतयो वसिष्ठशिखिध्व-जप्रभृतीनाम् । तादृश्यो दिव्यगुणसम्पन्ना नार्यो न केवलं न पुरुषानर्थहेतुः किन्तु सर्व-लोकपावनाः सर्वलोकवन्द्याश्चेति जानीहि । तादृशेभ्यो नारीजनेभ्यः शतशः प्रणामान् कुरु। न ते कथमपि दूषणार्हाः किन्तु सर्वथा श्लाघनार्हा इति बुद्ध्यस्व। प्राक्कथितं सर्वमपि

जैसे अरुन्धती वसिष्ठकी और चूड़ाला शिखिध्वज राजाकी मुक्तिका कारण बनी है, वैसे अन्य भी दिव्य गुणोंसे सम्पन्न स्त्रियां पुरुषोंको अनर्थसे बचाती हैं यही नहीं, किन्तु वे समस्त लोगोंको पवित्र करती हैं और सर्व-लोक-पूजित होती हैं यह जानो। वैसी स्त्रियोंको सैकड़ों बार प्रणाम करो। वे स्त्रियां किसी प्रकारसे भी दूषणीय नहीं हैं, किन्तु प्रशंसनीय हैं यह जानो।

पूर्वमें जो स्त्रियोंका दोष वर्णन किया गया

नारीदूषणमासुर्यां न दैव्या इति सुष्ठु विद्धि।

अथान्यच्च शृणु भो भ्रातः! पुत्रादयः पित्रादीनां न कथमपि सुखहेतवो दृष्टाः। सर्वथा दुःखहेतवो दृष्टाः।

स्वस्याजन्मना जन्मना च पुत्रः पितरमनवरतमुद्वेजयति। ननु यत्किञ्चिद्वस्तु स्वस्याजन्ममात्रेणान्यस्य कस्यचित् क्लेशहेतुः कथं स्या-

---

है वह आसुरी स्त्रियोंका है, दैवी स्त्रियोंका नहीं, यह जानो।

हे भ्रातः! और भी सुनो। पुत्र प्रभृति पिता आदिके कभी सुखके कारण नहीं देखे गये हैं किन्तु सर्वथा दुःखके कारण देखे गए हैं। पुत्रके नहीं जन्म होने और जन्म होने पर भी पिताको सदाके लिये दुःख उपस्थित हो जाता है।

यदि कहो कि कोई भी वस्तु अपनी उत्पत्ति से पहले ही किसीको कैसे दुःख उपस्थित कर

दिति चेच्छ्रूयताम् । "हन्त ! हन्त ! एतावन्तः संवत्सरा अतीताः, न मे पुत्रमुखदर्शनसौख्यं सञ्जातमद्यावधि, हन्त ! हन्त ! हतभाग्योऽहं मम जीवितेन किं प्रयोजन" मित्यादिभिर्बहुवचनैः पुत्रस्याजन्मना पुरुष आत्मानं भर्त्सयन् विलपंश्च दृश्यते। अथ पुत्रः स्वजन्मनाऽपि पितरं दुःखयत्येव । बाल्ये रोगाद्यनर्थैरध्ययनवैमुख्यादिभिश्च यौवने च

सकती है तो सुनो। पुत्रके नहीं जन्म होनेसे लोग अनेक प्रकारसे आत्मग्लानि और विलाप इस प्रकार करते देखे जाते हैं—हा ? महान् दुःख है कि मेरे इतने वर्ष बीत गए, आज तक मुझे पुत्र के मुख देखनेका सुख नहीं मिला। हा ? मैं बड़ा ही अभागा हूं । मेरे जीनेसे क्या प्रयोजन है इत्यादि और पुत्रके जन्म होने पर पिताको दुःख ही बराबर होता रहता है क्योंकि पुत्रकी बाल्य-अवस्थामें अनेक

परदारगमनादिभिर्दुश्चेष्टितैरकालमरणादि-भिश्च दुःखजनको जनकस्य पुत्रो दृष्टः। तस्मात्पुत्रादयः पितुः सुखकारणमिति बुद्धि-रहो! भ्रान्तिमात्रम्। इमां भ्रान्तिं निवर्तय। विचारपरो भव। पुत्रादिषु कलत्रे च बन्धु-बान्धवेषु चाऽसक्तो मा भूः। तेषु सर्वेषु वैराग्यमावह। वैराग्यजनितं महत्सुखमनुभव।

प्रकारके रोग आदिसे और उनके लिखाने-पढ़ानेके भार रहनेसे, युवा अवस्थामें पर-स्त्री आदिके कुसङ्गसे उनके चरित्र भ्रष्ट होने और अकाल मृत्यु आदि होनेसे पिताके लिए पुत्र सदैव दुःख-प्रद ही होता है अतः पुत्र आदिको सुख-प्रद समझना भ्रम है। उस भ्रमको हटाओ। विचार करो। पुत्र आदिमें, स्त्रीमें, और बन्धु-बान्धवमें आसक्त मत होओ। उन सबसे वैराग्य धारण करो। अरे मन! स्त्रीमें पुत्र आदिसे जैसे वैराग्य

रे चित्त! यथा स्त्रीसुतादिषु तथाऽस्मिन् शरीरेऽपि विगतरागं भव। अस्मिन् कलेवरे किं शोभनं पश्यसि त्वम्। मांसास्थिसञ्चित-माधिव्याधिमन्दिरमिदं शोभनंचेदशोभनं किमस्ति वस्तुलोके। अशोभनानामप्यशोभ-नमिदं देहमिति जानीहि। एवं ज्ञात्वा तत्रा-सक्तिं परित्यज। यथोक्तमस्मद्गुरुभि र्दया-लुभिः श्रीसौम्यकाशीशस्तोत्रे—

धारण करना है वैसे इस देहसे भी वैराग्य धारण कर लो। इस देहमें तुम क्या मनोहरता देखते हो। मांस हड्डियोंके पुञ्जरूप, आधि-व्याधिका घर यह शरीर यदि मनोहर कहलावे तो संसारमें बुरा पदार्थ क्या कहलावेगा। खराबसे खराब पदार्थ यह शरीर ही है यह जानो और ऐसा जान कर उससे आसक्ति छोड़ो। जैसे हमारे दयालु गुरु महाराजने "श्री सौम्य काशीशस्तोत्र" में कहा है:—

"मैथुनोत्थमतिमात्रकच्चरं
चात्रमूत्रकुहराद्विनिर्गतम् ।
गात्रमेतदसृगास्थिसञ्चितं
तत्र किं कुरु रतिं त्रिलोचने ॥१॥"

अतिमात्रकुत्सितेऽप्यस्मिन्देहे देही महाविचक्षणोऽपि निसर्गतः प्रीतिमान् वर्तते । अहो ! अशुचौ शुचित्वसम्पादिकाया अविद्याया विलासकौशलम् ।

"स्त्री, पुरुषके मैथुन से यह शरीर उत्पन्न होता है । यह अत्यन्त अपवित्र है । मूत्रके द्वार (योनि) से यह निकलता है । शोणित, हड्डी का पुंज है ऐसे निन्दनीय शरीरमें क्या प्रेम करते हो, शङ्करजी में प्रेम करो ॥१॥"

इस शरीरके अत्यन्त निन्दनीय होने पर महा बुद्धिमान् जीव भी इस शरीरमें जो नैसर्गिक प्रेम करता है यह अपवित्रको पवित्र जतानेवाली अविद्याका आश्चर्य प्रभाव है ।

देहगर्हापरमिदं शृणु श्रीकृष्णवचनम्—

"मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जाऽस्थिसंहतौ।
देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपिसः॥"

इति "विष्णुपुराणम्"

"स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान्।
वैराग्यकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते॥"

इति "पद्मपुराणम्"

श्री व्यासजीने देहकी निन्दा विष्णुपुराण में इस प्रकार की है–

मांस, रक्त, (खून) पीव, विष्ठा, मूत्र, स्नायु, मज्जा और हड्डीका पुञ्जमय जो यह देह है ऐसे देहमें जिस मूढ़का प्रेम होता है, उसका नरकमें भी प्रेम होगा।"

"अपने देहकी बदबूसे जिसे वैराग्य नहीं होता है उसे और किससे वैराग्य होगा॥"

(पद्मपुराण)

न केवलं विण्मूत्रपात्रत्वादेवेदं गर्हास्पदं, किन्तु क्षणभंगुरत्वादपि । नलिनीदलगतं सलिलमिवात्यन्ततरलं जीवितम् ।

तदुक्तम्—

"चलपत्रान्तलग्नाम्बुबिन्दुवत्क्षणभंगुरम् ।
आयुस्त्यजत्यवेलायां कस्तत्र प्रत्ययस्तव ॥"

इति "अ० रा०"

यह शरीर विष्ठा और मूत्र के भाण्ड होनेसे ही निन्दनीय है इतना ही नहीं, किन्तु क्षणभङ्गुर होनेसे भी निन्दनीय है। कमलके पत्ते पर के जल की तरह यह जीवन अत्यन्त चञ्चल है। जैसा कहा है—

"हिलते हुए पत्तेके अग्रभागमें संलग्न जल-बिन्दुकी तरह क्षणमें ही विनाश होनेवाली यह आयु असमयमें ही छोड़ बैठती है ऐसे जीवनमें तुम्हारा क्या विश्वास है ॥" "अ० रा०"

कदा इदं पतिष्यतीति कोऽपि न जानाति। कायो न कस्याऽपि सुस्थायी दृष्टः। सर्वे ब्रह्मादयः शैलसमुद्रादयश्च ये चेतनाचेतनेषु विशिष्टतमास्तेऽपिकालवशतां गच्छन्ति। कालः सर्वं निगिरति। आयुः सर्वेषां जनिमतामामघटाम्बुवत् प्रतिक्षणं क्षरति। तव पुरत एव प्रतिदिनमनेकानि भूतानि सूर्य-

---

कब इस देहका पतन हो जायगा यह कौन जानता है। शरीर किसीका भी स्थायी नहीं देखा गया है। चेतनमें सर्व-श्रेष्ठ ब्रह्मा आदि हैं और अचेतन में सर्व-श्रेष्ठ समुद्र आदि हैं वे सब भी कालके वशीभूत हो जाते हैं। काल सब को निगल जाता है जैसे कच्चे घड़ेसे पानी प्रति-क्षण चूता रहता है वैसे ही उत्पन्न होनेवाले पदार्थ मात्रकी आयु प्रति-क्षण क्षीण होती रहती है। सूर्य-किरणके ताप लगनेसे जैसे हिम-पुञ्ज

क्रिरणतापसम्पर्केण हिममालेव विलयमुपगच्छन्ति दृश्यन्ते त्वया। तथाऽपि त्वं कालवेगं न पश्यसि, आत्मानमहो! सुस्थिरं मन्यसे।

सत्यमुक्तं मुनिचरणैः—

"अहन्यहनि भूतानि प्रविशन्ति यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥"

इति "महाभारतम्'

(ओस) विलीन हो जाते हैं वैसे ही प्रति दिन अनेकानेक प्राणी तुम्हारे सामने ही विलीन हो जाते हैं। तुम उन्हें देखते हो तो भी तुम कालके वेगको नहीं देखते हो, अपनेको स्थायी मानते हो। यह आश्चर्य है, महर्षियोंने ठीक ही कहा है--

"दिन प्रति दिन प्राणी मात्र यमपुरीमें जा रहे हैं सबके यह प्रत्यक्ष है, तो भी बचे हुए लोग यहां स्थायीरूपसे रहना चाहते हैं इससे बढ़ कर और क्या आश्चर्य होगा॥" "महाभारत"

अस्य कायस्य क्षणिकतां मत्वा, तत्र स्थिरताभिमानमुत्सृज। स्थिरताभिमानं महानर्थनिदानं जानीहि। तत्र सत्यत्वभ्रान्तिमपाकुरु। शैला अपि विशीर्यन्ते। धराऽपि वैधुर्यं याति। समुद्रा अपि शुष्यन्ति। तारका अपि शीर्यन्ते। सिद्धा अपि विनश्यन्ति। दानवा अपि दीर्यंते। ध्रुवोऽप्यध्रुवं जीवति।

इस शरीरकी क्षणभंगुरता को समझकर उसके स्थायी होनेके अभिमानको छोड़ो। स्थायी होनेका जो अभिमान है वह महान् अनर्थका निदान (मूल कारण) है यह जानो। उसमें जो सत्यता का भ्रम है उसे दूर करो। पर्वत विलीन हो जाते हैं। पृथ्वी भी विलीन हो जाती है। समुद्र भी सुख जाते हैं। तारे भी नष्ट हो जाते हैं। सिद्ध गण भी प्रनष्ट हो जाते हैं। दानव भी विनष्ट हो जाते हैं। ध्रुव भी गायब हो जाते हैं। अमरगण

अमरा अपि म्रियन्ते। शक्रोप्याक्रम्यते वक्रैः। यमोऽपि नियम्यते। वायुरप्यवायुत्वमेति। सोमोऽपि व्योमतां याति। मार्त्तण्डोऽपि खण्डतामेति। अग्निरपि भग्नतामेति। परमेष्ठ्यपि नाशवान् भवति। अजो हरिरपि ह्रियते। भवोऽप्यभावमायाति। कालोऽपि सङ्काल्यते। नियतिश्चापि नीयते। अनन्तं

(देवगण) भी मृत्युको प्राप्त करते हैं। दुष्टोंके द्वारा इन्द्रका भी आक्रमण हो जाता है। यमराज भी शासित हो जाते हैं। वायु भी शक्ति-शून्य हो जाती है। चन्द्रमा भी शून्यभावको प्राप्त करते हैं। सूर्यका मण्डल भी खण्डित हो जाता है। अग्निदेव भी विलीन हो जाते हैं। ब्रह्माका भी विनाश हो जाता है। परमात्मा और विष्णु भी चले जाते हैं। शिव भी गायब हो जाते हैं। काल भी नहीं रहता है। भाग्य चक्र भी प्रनष्ट

खमप्यालीयते। स त्रिषु लोकेषु नास्ति योऽस्मिन्संसारे न बाध्यते। देवा दिवि, नरा भुवि, पाताले भोगिनश्चैते सर्वे जर्जरां दशां नीयन्ते। इति महाशक्तिसम्पन्ना महान्तो दिव्या अपि पदार्थाः कालवडवानलपातिन इति सर्वेषां कालग्रस्तता बहुवर्णिता भगवता वशिष्ठेन। तथाचेदहो ! अस्य शरीरस्य

हो जाता है। अनन्त आकाश भी विलीन हो जाता है। त्रिलोकीमें ऐसा कोई भी नहीं है जो संसारमें नाशवान् न हो। स्वर्गलोकमें देवगण, मर्त्यलोकमें मनुष्यगण, पाताललोकमें सर्पगण, ये सबके सब दीन-हीन दशाको प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार महान् शक्तिशाली जो बड़े २ अलौकिक पदार्थ हैं वे भी कालरूपी बड़वाग्निमें पड़ जाते हैं। सर्व प्राणियोंकी जो कालकी यह अधीनता है उसका वर्णन भगवान् वसिष्ठने अनेक प्रकारसे किया है। इस प्रकार विवेक करनेसे हो इस शरीरका

कैवास्था । उक्तं च—

"सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः
संयोगाविप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्॥"

इति "बृहदा॰ वार्तिकम्"

तथाचेदस्य स्थूलभूतानिचयरूपस्य सप्त-

कुछ भी भरोसा नहीं ज्ञात होता है। जैसा कहा गया है—

"जितने सञ्चय किये जाते हैं, सब परिणाममें विनाशशील हैं और जितनी उन्नति हैं सब परिणाममें विनश्वर हैं। संयोगके अन्तमें वियोग होना तथा जीवनके अन्तमें मरण होना निश्चित ही है ॥ १ ॥"

"बृहदा॰ वार्तिक"

ऐसे प्राकृतिक अटल नियम रहनेके कारण मांस, मज्जा आदि सप्त धातुओं से रचित, स्थूल भूतोंका पुञ्जस्वरूप जो यह देह है उसमें क्या

धातुकस्य देहस्य कैवास्था । एवं विविच्याऽस्मिन्नसारे करिकलभकर्णवच्चञ्चलतरे पुरीषपात्रे रतिं विहाय हरिपरायणो भव । सर्वेषु कनककान्तादिषु विषयेषु कलेवरे च विगततृष्णो भूत्वा निश्चिन्तो हरिं सततं चिन्तय । विषयमृगतृष्णिकापानार्थं तामनुधावतः पुरुषस्य हरिस्मरणकथा कथं स्यात् !

विश्वास है । इस प्रकार विचार करके हाथीके बच्चेके कर्ण की तरह चञ्चल, सार-रहित और विष्ठाके भाजन इस शरीरके प्रेमको छोड़ कर भगवानके आश्रय हो जाओ ।

जितने कनक (सुवर्ण) कान्ता (स्त्री) आदि विषय हैं उनसे और शरीरसे भी तृष्णा-रहित हो कर निश्चिन्तभावसे भगवानका सदा चिन्तन करो । विषयरूपी मृग-तृष्णा पान करनेके लिये उसके पीछे दौड़नेवाले मनुष्य हरि-स्मरण

भोग्यत्यागेनाप्रकम्पो भूत्वा हरिचरणाम्बुजं भज। वैराग्यसुधासौधमधिरुह्य प्रोषितभर्तृका कान्तेव भर्तारं भगवन्तं ध्याय दिदृक्षस्व च।

अथ विद्यासौन्दर्यसत्कुलतादिष्वप्यापातरमणीयेषुरम्यताबुद्धिं त्यज। तन्निमित्तकं गर्वमाकार्षीः। अल्पज्ञ एवाखर्वगर्वगजारूढः

की कथा कैसे कर सकते हैं। भोग्य पदार्थों का त्याग करके हरिके चरण-कमलका भजन करो। जैसे विदेश-स्थितपतिवाली स्त्री अपने पतिका ध्यान और अनुचिन्तन करती है उसी प्रकार वैराग्यरूपी अमृतके महल पर चढ़ कर भगवान के ध्यान और दर्शन की इच्छा करो।

विद्या, सौन्दर्य, उच्च कुल आदि जो नैसर्गिक मनोहर विषय हैं उन सबसे प्रेमभाव हटा लो, और उसका अभिमान मत करो। अल्पज्ञ पुरुष ही महान् गर्वरूपी हस्ती पर चढ़ कर

पश्यन्नप्यपश्यन्निव विचेष्टते, नाधिकज्ञः तेष्वासक्तिरपि महतः क्लेशस्य बन्धस्य च कारणमिति विद्धि।

किञ्च वाङ्मनसोर्विग्लापनं विद्धि वाग्गुम्फानामधिकतरमध्ययनम्। वेद शास्त्रादिव्यसनमपि पुरुषं व्याकुलयति पुरुषं चञ्चलयति शोकगर्ते पातयाति च। तदुक्तं

देखते हुए भी नहीं देखनेकी तरह चेष्टा करता है किन्तु विवेकी पुरुष ऐसा नहीं करते हैं। उन विषयों में अनुराग करना भी महान् क्लेश और बन्धन का हेतु है यह जानो।

सदा पढ़ने के व्यसन-शील पुरुषोंका ज्यादा अध्ययन भी वाणी और मनका क्लेश-जनक ही होता है यह जानो क्योंकि वेद शास्त्र आदिका व्यसन भी पुरुषको व्याकुल तथा चञ्चल कर देता है और शोकके गड्ढेमें गिरा देता है। यतिवर विद्यारण्य-

श्रीविद्यारण्यमुनिवरेण्यैः—

"वेदाभ्यासात्पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता ।
पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभङ्गगर्वैश्च शोकिता ॥"

"इति पञ्चदशी"

मलिना चेयं शास्त्रवासना पाठबहुशास्त्राध्ययनानुष्ठानव्यसनैस्त्रिधा वर्तत इति

स्वामीने जैसा कहा है—

वेदके अभ्यास करनेके पहले केवल आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापत्रय से शोक उत्पन्न होता है और वेद शास्त्रके अभ्यास करने पर तो वेदके अभ्यास, विस्मृति, पराजय और उसके गर्वसे शोक उत्पन्न होता है ॥"

"पञ्चदशी"

यह शास्त्र-वासना शुद्ध और मलिनके भेद से दो प्रकारकी होती है। उनमें मलिन जो शास्त्र-वासना है वह भी तीन प्रकारकी होती है।

तैरेव विस्तरेण सदृष्टान्तमुपपादितमन्यत्र।

दुःखदोषानुदर्शनेन निरर्थकपदपदार्थ-स्मरणादिरसिकतां निरस्य हरिचरणस्मरण-मधुमत्तो भव।

बिना अर्थ समझके पठन-मात्रका जो व्यसन है वह पाठ-व्यसन है। अर्थ समझ कर जो शास्त्र-पठन का व्यसन है वह शास्त्र-व्यसन है। शास्त्रमें कथित कर्म-कलापके अनुष्ठान करनेका जो व्यसन है वह अनुष्ठान-व्यसन है। इन त्रिविध व्यसनोंके भेदसे तीन प्रकारकी जो मलिन शास्त्र-वासना है उसका अन्य शास्त्रोंमें विद्यारण्य-स्वामीने दृष्टान्त देकर सविस्तर वर्णन किया है।

उक्त मलिन शास्त्र–वासना में दुःखरूपी दोषोंको देख कर पद्-पदार्थके विवेचन करनेका जो व्यर्थ प्रयास है उससे प्रेम हटा कर भगवान के चरण के स्मरणरूपी नशा पी कर मत्त हो जाओ।

अभिजनाभिमानमपि मा कार्षीः । ब्राह्मण्याद्यभिमानोऽपि मदहेतुर्बन्धहेतुर्दुःखहेतुश्चेति विजानीहि । पूजाप्रतिष्ठारूपे महाजालकेऽपि मा पत । मानस्तुतिप्रतिष्ठानां लिप्सा न कदापि कर्तव्या । स्वयं प्राप्तावपि श्रेयोविघातकत्वात् तत्रोपेक्षा कार्या ।

तदुक्तम्—

अपने कुलका भी अभिमान मत करो । ब्राह्मण आदि जातिका जो अभिमान है वह भी मद और बन्धन का हेतु है यह जानो । पूजा (सत्कार) और प्रतिष्ठा (बड़ाई) रूपी महाजालमें भी मत फंसो । आदर, स्तुति और प्रतिष्ठाकी अभिलाषा कभी मत करो । बिना प्रयासके उपस्थित होने पर भी उनकी उपेक्षा करो क्योंकि वे कल्याण के मार्ग में बाधक हैं । जैसा कहा है–

"अभिमानः सुरापानं गौरवं घोररौरवम्।
प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठा त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥"
इति

एवं सर्वेषु विषयेषु मायामयेषु मूढजनमनोरञ्जकेषु रागं त्यक्त्वा सुखी भव। सर्वेषामपि भयक्रोधलोभादीनां दोषाणामेकं बीजं राग इति विद्धि। ततश्च रागत्यागेन सर्वे

"संमानको मद्यपान की तरह समझो। बड़प्पनको रौरव नरक की तरह भयानक समझो। प्रतिष्ठा को सूअर की विष्ठा की तरह समझो। इन तीनोंको छोड़ कर मनुष्य सुखी हो जाता है॥"

इस प्रकार विवेचन करके मूढ़ जनके मनोरञ्जक समस्त मायामय विषयों से राग हटा कर सुखी हो जाओ। भय, क्रोध, लोभ आदि समस्त दोषोंका बीज राग है यह जानो। इस लिये राग (विषय-आसक्ति) को छोड़नेसे ही उक्त समस्त

दोषाः सन्त्यक्ताः स्युः । प्रसादविरोधिनां रागादिदोषाणां हाने तु त्वं सुप्रसन्नो गङ्गा-सलिलवन्निर्मलो भविष्यासि । आशादास्यं दूरतः परित्यज । उक्तं हि :—

"आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य ।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः ॥"

इति 'बृहन्नारदपुराणम्'

दोष परित्यक्त हो जाते हैं । शान्ति-सुखके विरोधी राग आदिके विनाश होनेसे तुम सुप्रसन्न और गंगाजलके समान पवित्र हो जाओगे । आशाकी दासता को दूरसे ही त्यागो । जैसा कहा गया है–

"आशाके जो दास हैं वे सबके दास हैं और जिन्होंने आशा को ही अपना दास बना लिया है । अर्थात् आशा को छोड़ दिया है, सब लोग उनके दास बन जाते हैं ॥"

"बृहन्नारदपुराण"

ननु विषयसेविनो विषयसेवातृष्णयाऽपि विषयभोगद्वारा वैषयिकं सुखमुपलभन्त एवेतिचेदिदं शृणु भाष्यकारवचनम् :—

"इन्द्रियाणां हि विषयसेवातृष्णातो निवृत्तिर्या तत् सुखम्, न विषयविषया तृष्णा, दुःखमेव हि सा। न तृष्णायां सत्यां सुखस्य गन्धमात्रमप्युपपद्यते ॥" इति

"गीताभाष्यम्"

यदि कहो कि विषयी पुरुषों को भी विषय-तृष्णा रहने से विषय का सुख तो प्राप्त होता ही है तो इसके समाधान में भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य के कथन को सुनो—

"इन्द्रियों की विषय-तृष्णा से जो निवृत्ति है वही सुख है, विषय की जो तृष्णा है वह सुख नहीं है, किन्तु दुःख ही है। तृष्णा के रहने पर सुख का लव-लेश नहीं रहता है। "गीताभाष्य"

"आशा तु परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।" इतिभाष्यकारवचनतात्पर्यम्। तथापि—"अहो चित्त! कथं भ्रान्तं प्रधावसि पिशाचवत्।"

अज्ञानेन विपत्समूहगर्भितेषु शब्दादिषु विषयेषु तृष्णया कुरङ्गादिवत्पञ्चत्वं मा गमः। तदुक्तम्—

'शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च,

आशा (कामना) परम दुःख है और निराशा परम सुख है यही भाष्यकार के कथन का तात्पर्य है। तो भी—"रे चित्त! तुम पिशाच की तरह क्यों दौड़ते हो।" समस्त विपत्तियों के अन्तस्तल वाले शब्द आदि विषयों में अज्ञान से तृष्णा करके हिरन आदिकी तरह मृत्यु को मत प्राप्त होओ। वैसा कहा गया है—

"शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये जो पांच

पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः ।
कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीन—
भृङ्गा, नरः पञ्चभिराञ्चितः किम् ॥१॥"
"विवेकचूडामणिः"

रे चेतः ! त्वं तु विवेकाधिकारि विवेकं कुरु । उपभोगेन कामानां कामस्य शान्तिर्न कदापि भवति । सहस्रपरिमितान् वत्सरान्

विषय हैं उनमें क्रम से एक-एक विषय में लालच रहने के हेतु हिरन, हाथी, पतङ्ग, मछली, भ्रमर इन पांचोंकी मृत्यु होजाती है और मनुष्य की तो उक्त पांचों विषयों में लालच बनी रहती है फिर मनुष्य की क्या कथा कही जा सकती है ॥ १ ॥"
"विवेकचूड़ामणि"

रे मन ! तुझे तो विवेक करने का अधिकार है । विवेक करो । कामनाओं के उपभोग करने से काम की शान्ति कभी नहीं होती है । हजारों वर्ष-

कामानुपभुज्याऽपि ययातिर्न तृप्तिमगमत्।
"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति॥
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥"
"भागवतम्"

इति हि ययातेर्वचनम्।

तस्माद्विवेकेन कामं त्यज। तृप्तिं भज।

तक कामनाओं के उपभोग करके भी, 'ययाति' नाम के राजा को तृप्ति नहीं मिली।

"जिस प्रकार घृत की आहुति डालने से अग्नि बुझती नहीं है किन्तु और अधिक प्रज्वलित हो जाती है उसी प्रकार कामनाओं के उपभोग से काम शान्त नहीं होता है किन्तु और अधिक बढ़ जाता है॥" "भागवत"

यह ययाति राजा का कथन है। इस लिये विवेक के द्वारा काम को छोड़ो। सन्तोष धारण

उपभोगेन कामस्तव वर्धिष्यते । विवेक-सामर्थ्यादेव त्वमैहिकमामुष्मिकञ्च विषयजातं हिरण्यगर्भपदपर्यन्तं सर्वं काकविष्ठावन्मनसा सन्त्यज्य निर्वृत्तो भव ।

ननु मनुजशरीरं तत्सम्बन्धि स्त्रीसुतादि च दुःखहेतुत्वेन त्याज्यमपि, देवादि-शरीरमतिपुण्यकर्मफलभूतं कथं दुःखहेतुः

करो । उपभोग करने से अभिलाषाएं और बढ़ेंगी। विवेक के प्राबल्य से ही इस लोक और परलोक के जो ब्रह्मलोक तक विषय-पुञ्ज हैं उन सब को काक-विष्ठा की तरह छोड़ कर निवृत्त हो जाओ।

मनुष्य-शरीर और उनके सम्बन्धी जो स्त्री, पुत्र आदि हैं वे सब दुःख के हेतु हैं अतः वे परि-त्याज्य हैं किन्तु देवता आदिके शरीर जो अत्यन्त पुण्य कर्म के फल रूप हैं वे कैसे दुःख के हेतु कहे

कथञ्च त्याज्यमिति मा शङ्किष्ठाः । पुण्यकर्म तत्फलभूतञ्च देवादिदेहं न सुखहेतुर्भवति कथमपि । सुखहेतुरित्येतद्भ्रान्तिमात्रम् । पुण्यसमूहपरिपाकेन स्वर्गलोके निवसतां सुराणामपि न दुःखविमोचनम् । तेषामपि तत्र दुःखमेव सातिशयत्वात्, रागद्वेषशोक-

---

जा सकते हैं और कैसे उसका परित्याग किया जा सकता है इस प्रकार की शंका का उत्थान नहीं करना चाहिये, क्योंकि पुण्य कर्म और उनके फल-भूत जो देवता आदि के शरीर हैं वे किसी प्रकार से भी सुखके हेतु नहीं हैं, उन्हें सुख के हेतु समझना भ्रम है । पुण्य-पुञ्ज के परिपाक से स्वर्गलोक में निवास करने पर भी देवगण की दुःखों से विमुक्ति नहीं होती है । उन्हें भी वहां दुःख होता ही है क्योंकि वहां पर भी तारतम्य है और वहां के सुख भी राग, द्वेष, शोक, मोह, भय आदि

मोहभयादिदोषदूषितत्वाच्च। तेषां तत्राधिकतरं सुखमपि विद्यत इतिचेन्न, तत्रत्यमपि सुखं मनुष्यलोकसुखवद्दुःखसम्मिश्रितत्वात् दुःखमेव विषसम्मिश्रितान्नवत्। तस्मात्पुण्यकर्म देवादिशरीरं वा नात्यन्तिकसुखसाधनमिति सुदृढं वोद्धव्यम्। ततश्चामरावत्या आधिपत्यं सत्यलोकस्य चाधिपत्यं

दोषों से दूषित हैं।

वहां पर उन्हें ज्यादा से ज्यादा सुख मिलता है यह भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि मर्त्यलोक के सुख की तरह स्वर्ग के सुख भी दुःख से सम्मिलित रहने के कारण दुःख ही हैं। विष से सम्मिश्रित अन्न की तरह दुःख ही है इस लिये पुण्यकर्म या देव-शरीर मिलना ये सब भी सर्वथा दुःख के ही साधन हैं यह अच्छी तरह जान लेना चाहिये। इस लिये स्वर्ग का राजा होना और

दुःखहेतुरिति श्रेयःपथविघातकमिति निश्चित्य तृणवत् परित्यज। सर्वं त्यक्त्वा त्यागाभिमानमपि त्यज। सर्वं त्यक्त्वा यदि वैराग्याभिमानोऽवशिष्यते, सर्वत्यागस्तर्हि न विशेषतः किमपि फलं तव सम्पादयिष्यति। "अहं विरक्तः कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया" इत्ययमभिमानोऽनार्यजुष्टः पिशाचवत् तव

मर्त्यलोक का राजा होना दोनों दुःख के हेतु हैं। वह कल्याण-मार्ग के विघातक हैं यह निश्चय करके तृणकी तरह उसे छोड़ दो और उन सबके परित्याग करने पर यदि उस त्याग का अभिमान भी अवशिष्ट रह जाय तो तुम्हारा सर्व-त्याग भी विशेष फल-जनक नहीं हो सकेगा।

"मैं विरक्त हूं, मेरे सदृश दूसरा कौन है" इस प्रकार का यह अभिमान आर्यजन से सेवित नहीं है, वह पिशाच की तरह तुम्हारे

निखिलमपि गुणजातमेकग्रासत आशु निगिरति। तस्माद्वैराग्यसम्पन्नोऽपि विनम्रो भव। वैराग्यसम्पन्मदमदिरां पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा मत्तोन्मत्तप्रमत्तदशां जुगुप्सितां मागाः। स्त्रीसुतधनादित्यागेऽपि तत्त्यागाभिमानस्य त्यागो न कर्तुं शक्यते त्यागिभिरित्यहो! चित्रं! चित्रं! मोहवैभववैचित्र्यम्।

निखिल गुणों को बहुत शीघ्र एक ही ग्रासमें निगल जायगा। अतः वैराग्य को प्राप्त करके भी विनीत बनो। वैराग्य के अभिमान रूपी नशाको बराबर पी कर मत्त, उन्मत्त तथा प्रमत्त अर्थात् क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़स्वरूप निन्दित अवस्था को मत प्राप्त करो।

स्त्री पुत्र धन आदि विषयों के परित्याग करने पर भी उनके त्याग का अभिमान त्यागियों का नहीं छूटता है यह कैसा विचित्र मोह का

अथाभिमानार्थं पूजाप्रतिष्ठार्थं वा पुत्रकलत्रादिकं विषयजातं ये परित्यजन्ति ते खलु तदनुरक्तेभ्यः प्राकृतेभ्योऽपि निकृष्टतरा इति बुद्धयस्व। विवेकवैराग्यभाक् त्वं देवशरणः सन् चिन्ताविलापरहितो भव। भूतस्मृतिं दह। भाविचिन्तां जहि। भूतभावि-

---

प्रभाव है। जो कोई व्यक्ति अभिमान प्राप्त करने के लिये अथवा आदर और प्रतिष्ठा के लिये पुत्र, कलत्र आदि विषयों का परित्याग करते हैं वे तो विषय-आसक्त साधारण मनुष्यों से भी नीच हैं यह जानो। तुम विवेक और वैराग्य धारण करने की क्षमता रखते हो। प्रारब्ध का ख्याल करके चिन्ता और विकलता को छोड़ो। अतीत-स्मृति को दग्ध कर दो। भविष्य की चिन्ता का समुच्छेद कर दो।

चिन्ताभिस्त्वमात्मानं वृथा किमर्थं कदर्थयसि। यद्भूतं तद्भूतमेव यच्च भावि तद्भविष्यत्येव। तत्र का चिन्ता। यद्यदागतं तत्तदपेक्षस्व। यद्यद्गतं तत्तदुपेक्षस्व। तत्र खेदनं मोदनं वा मा कार्षीः सुखं मे भूयात्, दुःखं मे मा भूदिति चिन्तयात्मानं मा

भूत और भविष्य की चिन्ताओं से तुम अपनी आत्मा को व्यर्थ ही में क्यों दुःखित कर रहे हो? जो भूत (अतीत) है वह तो बीत ही चुका है और जो होनेवाला है वह हो कर ही रहेगा उस की क्या चिन्ता, जो उपस्थित होता जाय उसका ग्रहण करते जाओ और बीते हुए को छोड़ते चलो। उसमें हर्ष, विषाद कुछ मत करो। मुझको सुख होता रहे, दुःख मुझे न हो इस प्रकार की चिन्ता से अपने को दुःखित मत

व्यथय। यथाप्रारब्धं सर्वं भवति भविष्यति च। यथाप्रारब्धमायुर्व्यतिगमिष्यति। भावि खण्डनेन न खण्ड्यते। भावि मण्डनेन न मण्ड्यते च। हरिणाऽपि हरेणाऽपि ललाटलिखिता लेखा परिमार्ष्टुं न शक्यते। अतो विधिर्बलवानिति निश्चिनु। अनुकूलं प्रतिकूलं वा विधिं विहन्तुं कः समर्थः। सम्-

---

करो। प्रारब्धके अनुसार सब कुछ होते रहते हैं और होते रहेंगे। प्रारब्ध-अनुसार आयु बीत जायगी। भावी पदार्थ (होनहार) टालने से नहीं टलता है और न तो रखने से रहता है। विष्णु और शिव भी ललाट में लिखित हिसाब को अर्थात् प्रारब्ध को नहीं हटा सकते हैं इसलिये विधि सर्वोपरि बलवान् है यह निश्चय जानो कौन विधि की अनुकूलता और प्रतिकूलता को हटाने की क्षमता रखता है। उन्नति अथवा

द्धिर्वा नाशो वा पुरुषस्य विधितन्त्र इति समाधेहि ।

उक्तं हि :—

"अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः ॥"

इति "पञ्चदशी"

"हा राम हा मे रघुवंशनाथ,

विनाश विधि (प्रारब्ध) के अधीन है यह मान-लो । कहा भी गया है—

"अनिवार्यरूपसे होनेवाले जो होनहार (भावी) वस्तु हैं उनका यदि कुछ प्रतीकार (हटनेका उपाय) होता तो नल, रामचन्द्र और युधिष्ठिर कभी दुःखोंसे लिप्त नहीं होते ॥"

"पञ्चदशी"

दशरथजीका कथन है कि—"हा रामचन्द्र! हा रघुवंशियोंके नाथ! तुम सर्व-श्रेष्ठ परमात्मा

जातोऽसि मे त्वं परतः परात्मा ।
तथाऽपि दुःखं न जहाति मां वै,
विधिर्बलीयानिति मे मनीषा ॥"
इति च "अ० रा०"

"रामे प्रव्रजनं बलेर्नियमनं पाण्डोः सुतानां वनं, वृष्णीनां निधनं नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रंशनम् ॥ कारागारनिषेवणं च मरणं सञ्चित्य लङ्केश्वरे, सर्वः कालवशेन

मेरे पुत्र हुए तो भी दुःख मुझे नहीं छोड़ता है । इस लिये मेरी यही धारणा होती है कि विधि सर्वोपरि बलवान् है ॥"   "अ० रा०"

"रामचन्द्रका वन गमन, बलि राजा का बन्धन, पाण्डवोंका बनवास, यादवोंका विनाश, राजा नलका राज्य से च्युत होना इन सब बातों को देखने से यही स्थिर होता है कि सब मनुष्य काल पा कर विनष्ट हो जाते हैं कौन किस को बचा

नश्यति नरः को वा परित्रायते ॥

इति च "भोजप्रबन्धः"

एवं समाधाय भूतभाविचिन्तां परित्यज्य वर्तमाने वर्तस्व। यथाकथञ्चित्कालं नय। अदृष्टेन यत्किञ्चिल्लभ्यते तत् खाद, चणकाः श्यामाकास्तण्डुलाः शाकाः पत्राणि वा।

यथोक्तं श्रीशङ्करभगवत्पूज्यपादैः—

सकता है ?" "भोज प्रबन्ध"

ऐसा विचार स्थिर करके भूत और भावी वस्तु की चिन्ता को छोड़ कर केवल वर्तमान वस्तु का ख्याल करो। जैसे तैसे काल काटो। जो कुछ प्रारब्धसे चना, चावल, शाक, पत्ते भोजन मिलें उन्हें खा लो। परम पूजनीय श्री शंकराचार्यने जैसा कहा है—

"क्षुद् व्याधिश्च चिकित्स्यतां
प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यताम् ।
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां
विधिवशात्प्राप्तेन सन्तुष्यताम् ॥"
इति "साधनपञ्चकम्"

न किञ्चिल्लभ्यते चेदुदकं पिब । यत्कि-ञ्चिद्वस्त्रमात्रं जीर्णमशोभनं कर्चरं खण्डितं वा यदृच्छया लब्धं तेनैव शरीरमाच्छादय ।

"क्षुधारूपी रोग की चिकित्सा भिक्षारूपी औषधके सेवन-द्वारा प्रतिदिन करो । स्वादिष्ट अन्न की याचना मत करो । जो विधि-वश (प्रारब्ध-अनुसार) प्राप्त हो उसीसे सन्तोष करो ॥" "साधनपञ्चक"

यदि कुछ नहीं मिलता है तो जल मात्र पी कर रहो । जो कुछ फटा-पुराना खराब या मैला वस्त्र अनायास मिले उसीसे शरीर ढक लो अथवा

अथवा रथ्याचर्पटेन विरचितया कुकन्थया शीतबाधां बाधस्व। गद्धा वल्कलं दिग्वासो वा परिधेहि। अथचोटजः कुटीरो नदी-पुलिनं श्मशानं वा वृक्षमूलं शून्यमन्दिरमा-रामो वा गुहा वा दैवेन यत्प्राप्तं तत्रैव कालं नय।

उक्तं हि श्रीभर्तृहरिणाऽपि :—

"कौपीनं शतखण्डजर्जरतरं कन्था पुन-

रास्ते पर पड़े हुए गूदड़ों को सी करके रचित कुत्सित गूदड़ से शीत-निवारण करो या वल्कल (भोजपत्र) पहनो अथवा नग्न ही रहो। पर्ण-गृह, कुटी, नदी-तट, श्मशान, वृक्ष-मूल, शून्यगृह, बगीचा अथवा कन्दरा जो कुछ भी दैवाधीन प्राप्त हो उसीमें अपना काल बिताओ।

श्री भर्तृहरि ने कहा भी है—

"सैकड़ों जगह फटे और जीर्णतम कौपीन

स्तादृशी। निश्चिन्तं सुखसाध्यभैक्ष्यमशनं शय्या श्मशाने वने।"

इति "वैराग्यशतकम्"

शोभनेनान्नेन वस्त्रेण निवासेन वाऽस्य कुणपस्याराधनं मा कार्षीः। तदर्थं प्रयत्नवान्मा भूः। यदृच्छालाभसन्तुष्टो भव। शरीरनिर्वाहमेवं कुरु। गर्भे तव रक्षा येन

(पहनने का वस्त्र) और वैसी ही कन्था (ओढ़ने का वस्त्र) हो। विना चिन्ता के अनायास मिलने वाली भिक्षा ही भोजन हो। श्मशान और वन जहां कहीं भी शय्या हो।" "वैराग्यशतक"

स्वादिष्ट अन्न से, सुन्दर वस्त्र से, उत्तम निवास से इस मुर्दा शरीर की आराधना मत करो। उसके लिये कुछ भी प्रयत्नशील मत बनो। अनायास जो कुछ प्राप्त हो उसी से सन्तुष्ट रहो। इसी प्रकार अपना शरीर-निर्वाह

कृता स परमात्मा इदानीमपि तव रक्षां करिष्यति। यदा तव दन्ता नासन् तदा तव हिताय यो दुग्धं मातुः स्तनयोररचयत्, यदा तव दन्ता सञ्जातास्तदा त्वदर्थमन्नं यः प्राददात्, यश्चेतनाचेतनेभ्यः सर्वेभ्योऽपि यद्यदपेक्षितं तत्तत् सर्वदा ददाति, स किं त्वामुपेक्षते। स एव तुभ्यमपि यद्यदिष्टं तत्तत्सर्व-

करो। जब तुम माता के गर्भ में थे उस समय जिस परमात्मा ने तुम्हारी रक्षा की थी इस समय भी वही तुम्हारी रक्षा करेंगे। जब तुम्हारे दांत नहीं निकले थे तब तुम्हारे कल्याण के लिये जिस परमात्मा ने माता के स्तन में दुग्ध का निर्माण किया था और जब दांत निकले तब तुम्हें अन्न प्रदान किया। जंगम-स्थावर सबके लिये जिस २ वस्तु की जरूरत पड़ती है, उस २ वस्तु को जो सदा पूरा करता है वह क्या तुम्हारी उपेक्षा करेगा ? वही

मपि देयं दास्यति । किं वृथा हाहाकारेण वि-
लपनेन । शरीरचिन्तां परित्यज्य भगवच्चरण-
शरणो भव ।

"योगक्षेमं वहाम्यहम्"

इति हि भगवदुक्तिः ।

आकर्ण्यतां वत्स! किञ्चिदन्यदपि ।
अहोरात्रगमनेनायुः क्षीयते । कालगते-

परमात्मा तुझे भी जिस २ वस्तु की अपेक्षा होगी उस सब को प्रदान करेगा । व्यर्थ हाहाकार कर के रोने से क्या होता है। शरीर की चिन्ता छोड़ कर भगवान के चरण की शरण लो । "भक्त का योग-क्षेम (शरीर-निर्वाह) मैं करता रहता हूं" यह भगवान का कथन है ।

हे वत्स ! और भी कुछ सुनो । दिन-रात के बीतने से आयु बीत रही है । बड़े शीघ्र वेग की

महतीं शीघ्रतां विचार्य त्वरस्व त्वम्। यदद्य-कार्यं तदद्यैव कुरु। श्वः कर्तास्मीति मा वोचः। विषयतृष्णासमुन्मूलनार्थं परिकरबन्धं कुर्याः। विवेकेनेहलोकपरलोकतृष्णां छिन्धि। विवेक-दार्ढ्येन वैराग्यं सम्पादय। विवेकदार्ढ्यं विना न कदापि वैराग्योत्पत्तिः अनेकेषु दुर्घटविष-मतीर्थेषु परिभ्रम्यताम्। तथा जटिलत्वमुण्ड-

---

काल की गति को सोच कर तुम जल्दी करो। जो आज करना है उसे आज ही करो। कल कर लूंगा ऐसा मत कहो। विषयों की तृष्णा के परि-त्याग का दृढ़ संकल्प कर लो। विवेक के द्वारा इस लोक और परलोक की तृष्णा का उच्छेद कर डालो। विवेककी दृढ़तासे वैराग्य सम्पादन करो। विवेक की दृढ़ता हुए बिना कभी वैराग्य नहीं हो सकता है। अनेक विषम और दुःसाध्य तीर्थों में परिभ्रमण करो और जटा धारण करना

त्वादिवेषाः क्रियन्ताम्। काषायवासश्च धार्यताम्। भिक्षान्नमपि भुज्यताम्। तथाऽपि सुदृढं विवेकमन्तरेण न विषयवैतृष्ण्यमुत्पत्तुमर्हति। तस्माद्विवेकपरो भव। त्वं त्वचिरेण जीर्णो भविष्यसि। किन्तु तृष्णा विवेकमन्तरेण न कदाऽपि जीर्णा स्यात्।

ननु विवेकदार्ढ्यं कथं सिद्ध्यति? विष-

या समस्त मुण्डन करा लेना आदि जो महात्मा के वेष हैं उन्हें धारण करो। भगवा वस्त्र (गेरुआ-वस्त्र) धारण करो। भिक्षा से प्राप्त अन्न खाओ। तब भी दृढ़तर विवेक के बिना विषयों से वैराग्य नहीं हो सकता है। इस लिये विवेक करने में तत्पर हो जाओ। तुम तो शीघ्र ही जीर्ण हो जाओगे किन्तु तृष्णा विवेक के बिना जीर्ण कभी नहीं होती।

यदि कहो कि विवेक की दृढ़ता कैसे हो? क्योंकि विषय की रमणीयता का ज्ञान प्रबल

येषु रम्यत्वबुद्धिः सहजा बलवती च वर्तते तस्या निवृत्तिः कथं स्यादिति चेच्छृणु। पौनःपुन्येन दोषदर्शनात्मकं विचारं कुरु। भूयो भूयो विचारेण तस्य दार्ढ्यमवश्यं स्यादेव। विषयेषु रम्यता भ्रान्तिश्च ततो विनंक्ष्यति। तदर्थं पौरुषं कुरु। पुरुषार्थेन हि सर्वाणि कार्याणि सिद्ध्यन्ति। सुप्तस्य कण्ठीरवस्य मुखे मृगा न प्रविशन्ति। पुरु-

और नैसर्गिक रूप से भासित हो रहा है, उसकी निवृत्ति कैसे हो सकती है तो सुनो—विषयों में बार-बार दोष-दर्शन रूप विचार करो। बार-बार विचार करने से उसकी दृढ़ता अवश्य हो जायगी और तब विषयों की रमणीयता और भ्रान्ति विनष्ट हो जायगी। उसके लिये पुरुषार्थ करो। पुरुषार्थ के द्वारा ही समस्त कार्य सिद्ध होते हैं। सोते हुए सिंह के बच्चे के मुख

षार्थशून्या जना हन्त ! हन्त ! वृक्षपाषाण-सदृशाः कल्याणपथे चालितुं न कदाऽपि समर्था भवन्ति। तस्माद्व्यवसायी भव। शास्त्रा-नुमोदितं व्यवसायं कुरु सर्वदा।

तदुक्तम् :—

"सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन।
सम्यक् प्रयुक्तात्सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते ॥१॥

में हिरन नहीं आ पड़ते हैं। बड़े खेद की बात है कि वृक्ष, पत्थर की तरह पुरुषार्थ-रहित मनुष्य कल्याण-मार्ग पर कभी नहीं चल सकते हैं इस लिये तुम पुरुषार्थी बनो। सदा शास्त्र-अनु-कूल पुरुषार्थ करो। जैसा कहा गया है—

"हे राम ! इस संसार में अच्छी तरह पुरु-षार्थ करने पर सबसे सब कुछ सदा प्राप्त किया जाता है ॥१॥"

उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति द्विविधं पौरुषं स्मृतम् ।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम् ।२।
संसारकुहरादस्मान्निर्गन्तव्यं स्वयं बलात् ।
पौरुषं यत्नमाश्रित्य हरिणेवारिपञ्जरात् ॥३॥
पौरुषेणान्नमाक्रम्य यथा दन्तेन चूर्ण्यते ।

"शास्त्र-विरुद्ध और शास्त्रीय यह दो प्रकार के पुरुषार्थ कहे गये हैं, उनमें शास्त्र-विरुद्ध पुरुपार्थ करने से अनर्थ उत्पन्न होता है और शास्त्रीय पुरुषार्थ के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जाता है ॥२॥"

"यत्न-पूर्वक पुरुषार्थ करके इस संसाररूपी गुफा से स्वयं साहस करके निकल जाना चाहिये, जैसे शत्रुओं के पिंजड़े से सिंह निकल जाता है ॥३॥"

"जैसे दन्त पुरुषार्थ के द्वारा आक्रमण करके अन्न को चूर्ण-चूर्ण कर डालता है वैसे ही वीर

अन्यः पौरुषमाश्रित्य तथा शूरेण चूर्ण्यते॥४॥"

इति "वासिष्ठम्"

अपि च विविक्तदेशसेवी भव। जनसंसदि अरतिं कुरु। विविक्तदेशेषु च गङ्गासलिलसमीरणपवित्रितं हिमगिरिशिखरमुत्तमतमं, विद्धि। विविक्तदेशसेवनं तु वैराग्यमतिमात्रं विवर्द्धयति। तसमादुत्तराखण्डागि-

---

पुरुष पुरुषार्थ के द्वारा दूसरे को चूर्ण-चूर्ण कर डालता है॥४॥" "वासिष्ठ"

एकान्त देश का सेवन करो। मनुष्य की गोष्ठी में प्रेम मत करो। गङ्गाजल से सिक्त वायु से पवित्र हिमालय पर्वत की जो चोटी (शिखर) है, उसीको सबसे उत्तम एकान्त प्रदेश जानो। एकान्त प्रदेश के सेवन करने से प्रचुर मात्रा में वैराग्य की वृद्धि होती है। इस लिये उत्तराखण्ड पर्वत पर निवास करने का प्रेमी बनो।

रिकन्दरनिवासरसिको भव। गङ्गायाः, पवि-त्रपाथस्तवमालिन्यमचिरादुन्मूलयिष्यति। विषयरागाविमर्दनेन त्वां शीघ्रमेवेश्वरोन्मुखं करिष्यति। रागद्वेषाकुलस्यास्य जगतः स्मृतिमुच्छेत्स्यति। जाह्नवीजलमेवसंसारतापतप्तानां संसारतापान्निवृत्तिमिच्छतामेकं शरणमस्मिन् कालेयकाल इति श्रद्धत्स्व। विष्णु-

---

गङ्गा की पवित्र धारा तुम्हारी मलिनता को शीघ्र ही विनष्ट कर देगी। विषयों के राग का उच्छेद करके तुम्हें शीघ्र ही ईश्वर की तरफ कर देगी। राग और द्वेष से पर्याकुल इस संसार की स्मृति का उच्छेद करेगी। सांसारिक तापों से जो परितप्त हैं और उन सांसारिक तापों से मुक्ति चाहते हैं उनके लिये इस कलि-काल में केवल गङ्गाजल ही शरण है यह विश्वास करो। यह गङ्गा विष्णु के चरणोदक हैं, इनका सेवन श्रद्धा से करो। गङ्गा का

पादोदकमिदं श्रद्धया भजस्व। गङ्गायाः सेवनमतिमात्रपुण्याधायीति गृहाण। साक्षात्परं ब्रह्मैव गङ्गेति निश्चित्य तामुपास्स्व।

तदुक्तम्ः—

"गङ्गोपसेवनं नान्यद्भुक्तिमुक्तिप्रसिद्धये।
कालेयकाले तद्दोषदूषितालसचेतसाम् ॥१॥
गङ्गायादर्शनं पुण्यं गङ्गायामवगाहनम्।

सेवन अत्यन्त पुण्य-जनक है यह समझो। गङ्गा साक्षात् पर ब्रह्म ही है ऐसा निश्चय करके उसकी आराधना करो। वैसा कहा गया है—

"कलि-काल में कलि के दोषों से दूषित होने से पुरुषार्थ-रहित चित्त वाले मनुष्यों के भोग और मोक्ष सम्पादन के लिये गङ्गा के सेवन करने के सिवाय दूसरा कोई साधन नहीं है ॥१॥"

गङ्गा का दर्शन करना, गंगा में स्नान करना, गंगा किनारे निवास करना और गंगा के नाम

गङ्गातीरनिवासश्च गङ्गानामजपार्चनम् ॥२॥
ब्रह्मैव परमं साक्षाद्द्रवरूपेण धावति ।
पुमर्थकरणार्थं कौ गङ्गेति शुभसंज्ञया ॥३॥"
इति "श्री गङ्गोत्तरीक्षेत्रमाहात्म्यम्"

रे चित्त ! दुर्दम ! तादृशे विविक्ते देशे स्थित्वा वैराग्यमूर्त्तेर्नचिकेतस आख्यायिका-मनुचिन्तय। नचिकेतःप्रभृतीनां वैराग्यनि-

---

का जप, पूजन करना ये सब पुण्यप्रद हैं ॥२॥"

पुरुषार्थ-सम्पादन के लिये 'गंगा' इस शुभ नाम के द्वारा साक्षात् परब्रह्म ही जल-धारा रूप से पृथिवी पर दौड़ रहा है ॥"

"श्री गंगोत्तरीक्षेत्र माहात्म्य"

अरे दुःसाध्य चित्त ! वैसे एकान्त प्रदेश में रह कर वैराग्य के स्वरूपभूत नचिकेता की कथा का चिन्तन करो, क्योंकि नचिकेता आदि वैराग्य

धीनां चरितानुचिन्तनेन तव वैराग्यांकुरः शीघ्रमेवबृद्धिमेष्यति ।

पंचवर्षो नचिकेतोनामा ऋषिपुत्रः पितृशापेन यमराजधानीं गतः । तत्र गत्वा यमेन नानाविधैः शोभनैर्विषयैः प्रलोभितोऽपि स तान् न परिजग्राह । स ऋषिवालो महाहृदइव न किंचिदपि विचचाल । विषयान्

की खान हैं उनके चरित्र के अनुचिन्तन करने से तुम्हारा वैराग्यका अङ्कुर शीघ्र ही बढ़ जायगा ।

नचिकेता नाम का पांच वर्ष का एक ऋषिकुमार अपने पिता के श्राप से यमराज की राजधानी में प्राप्त हुआ । वहां जानेसे यमराज ने अनेक प्रकार से रमणीय विषयों के द्वारा उसे प्रलोभन दिये किन्तु उसने उन्हें स्वीकार नहीं किया । वह ऋषि-बालक गम्भीर जलाशय की तरह कुछ भी विचलित नहीं हुआ । उसने विषयों को तृण की तरह

तृणवत् परितत्याज ।

"शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व
बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥"

"ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान्कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या

त्याग दिया। यमराज ने यहां तक उससे कहा–

"हे नचिकेता! तुम मुझसे सैकड़ों वर्ष जीने वाले पुत्र-पौत्रों को मांगो और अनेकों पशु, हाथी, घोड़े, सुवर्ण, विस्तृत पृथिवी मांग लो तथा जितने वर्ष जीने की इच्छा करते हो वैसी आयु मांग लो।"

मर्त्यलोकमें जो जो विषय दुर्लभ हैं उन सब विषयों को अपनी इच्छा के अनुसार तुम मुझ से मांग लो। रथ और वाद्य-सहित तथा मनुष्यों से

नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ॥
आभीर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व।
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥"

इति बहुभिः प्रलोभनैः प्रलोभितेनाऽपि नचिकेतसा धैर्येण विवेकेन चेत्थं प्रत्याख्यातम्।

"श्वोऽभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।

अप्राप्य ऐसी ये सुन्दर स्त्रियां हैं। हे नचिकेता! इन स्त्रियों को मैं तुम्हें प्रदान करता हूं, मुझ से दी गयी इन स्त्रियों से तुम अपनी परिचर्या कराओ। उपर्युक्त वस्तुएं तुम मांग लो किन्तु मृत्यु के विषय में कुछ भी प्रश्न मत करो।"

इस प्रकार यमराज के अनेकों प्रलोभन देने पर भी नचिकेता ने धैर्य और विवेक से इस प्रकार जवाब दिया कि—

"हे यमराज! नहीं रहने वाले ये विषय

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्य-गीते ॥"
"नहि वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः ॥ इति
"कठ उ०"

एतादृशमहच्चरितानुचिन्तनेन सम्यग्विषयदोषानुदर्शनेन चोच्छ्रितां सुदृढां वैराग्य-

---

भी मनुष्य के समस्त इन्द्रियों के तेज को और इस थोड़े से जीवन को निःशेष रूप से हर लेते हैं इस लिये ये आपके घोड़े और नृत्य-गीत आप ही को रहें ॥"

"धन से मनुष्य को सन्तोष नहीं प्राप्त हो सकता है।" "कठ उ०"

इस प्रकार के महात्मा पुरुष के चरित्र के अनुचिन्तन करने से और विवेक के द्वारा विषयों में दोष-दर्शन करने से उन्नत और सुदृढ वैराग्य की

भूमिमधिरुह्य तत्र तेन तत्सहचरैः शमदमादिभिश्च नितरां मोदस्व। वैराग्यकञ्चुकेन विषयशराक्रमणादात्मानं रक्षय। वैराग्यशस्त्रेणेमं संसारवृक्षं छिन्धि। जन्मजरामरणशोकाद्यनेकानर्थात्मकः, कदलीस्तम्भवन्निःसारस्तृष्णाजलासेकोद्भूतदर्पो, बुद्धीन्द्रिय-

---

भूमिका पर आरूढ़ हो कर वहां उस वैराग्य और उसके सहचर शम, दम आदि साधनों से तुम प्रसन्न रहो। वैराग्यरूपी कवच पहन कर विषय रूपी बाण के आघात से अपनी रक्षा करो। वैराग्यरूपी शस्त्र से इस संसाररूपी वृक्ष का छेदन करो।

जन्म, जरा, मरण, शोक आदि अनर्थ रूप जो यह संसार वृक्ष है, तृष्णारूपी जल से सिंचन होने से जो बढ़ा हुआ है और जिस के बुद्धि, इन्द्रिय और विषय वाल अंकुर

विषयप्रवालांऽकुरो, यज्ञदानतपआद्यनेक-क्रियासुपुष्पः, सुखदुःखवेदनाऽनेकरसः, प्राण्युपजीव्यानन्तफलः, कष्टरुदितहाहामुञ्च-मुञ्चेत्याद्यनेकशब्दकृततुमुलीभूतमहारव एष संसारवृक्षो विवेकविज्ञानतीक्ष्णीकृतेन वैतृष्ण्यशस्त्रेण सत्वरमुच्छिद्यताम्। तत्र मा विलम्बं कुरु।

हैं। यज्ञ, दान, तप आदि अनेक कर्म-कलाप रूपी सुन्दर पुष्प हैं। सुख, दुःख, वेदना रूपी अनेक प्रकार के रस हैं। प्राणी को जिलाने वाले अनन्त फल हैं। हा! हा! छोड़ो, छोड़ो इस प्रकार कष्ट से रोदन आदि का जहां कोलाहल हो रहा है और जो केले के खम्भे की तरह असार है ऐसे संसाररूपी वृक्ष को विवेक और विज्ञान के द्वारा तीक्ष्ण किये गये तृष्णा के परित्यागरूपी शस्त्र से शीघ्र काट डालो। उसमें विलम्ब मत करो।

रे चेतः ? सर्वश्रेयसां वैराग्यमेव मूल-कारणमिति ज्ञात्वा वैराग्यमूलद्रविणं भव। ततश्च भगवत्पादपद्मपरिमार्गणतत्परं भव। भगवच्चरणाम्भोजभजनैकजीवनं भव।

"दुरीश्वरद्वारबहिर्वितर्दिका-
　　दुराशिकायै रचितोऽयमञ्जलिः।
यदञ्जनाभं निरपायमस्ति नो-

रे मन! समस्त कल्याण का मूल कारण वैराग्य ही है यह जान कर वैराग्यरूपी मूल धनी हो जाओ और तब भगवान के चरण-कमल की खोज करने के लिये कमर कस लो। भगवान के चरण-कमल के भजन में ही लीन हो जाओ।

"नीच धनवान व्यक्ति के द्वार के बाहर में अपमान कराने वाली इस दुष्ट आशा को अञ्जलि-बद्ध प्रणाम है अर्थात् उस दुराशा से अब कुछ

धनञ्जयस्यन्दनभूषणं धनम् ॥"

"वैराग्यपञ्चकम्"

इति वैराग्यप्रकरणं समाप्तम्

प्रयोजन नहीं है क्योंकि अर्जुन के रथ के भूषण स्वरूप, स्याम वर्ण श्री कृष्णरूपी अविनाशी धन हम लोगों को विद्यमान है।" 'वैराग्यपञ्चक"

॥ इति वैराग्यप्रकरण समाप्त ॥





श्रीनन्दनन्दन

THE GITA PRESS, GORAKHPUR

श्री गणेशाय नमः

अथ भक्तिप्रकरणम्

" वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥"

जिनके हाथ में बांसुरी विराजमान है, जो नवीन मेघ के समान शोभायमान हैं, जो पीत वस्त्र धारण किये हुए हैं, जिनके अधर-ओष्ठ बिम्ब फल के समान लाल हैं जिनका मुख पूर्ण चन्द्र की तरह सुन्दर है और जिनकी आंखें कमल के समान हैं उन कृष्ण भगवान के सिवाय और किसी तत्त्व को मैं नहीं जानता अर्थात् वही कृष्ण भगवान मेरे उपास्य देव हैं।

रे चित्त ! त्वं विवेकवदसि । त्वं वैराग्य-वदसि । हरिचरणौ नितरां स्मर । हरिचरणौ नितरां शरणीकुरु । मर्कटबन्धुतां हित्वा सुस्थिरं भव । हरिचरणभजनैकनिष्ठं भव । हरिभक्तिरेव परमपुरुषार्थैकसाधनमिति विद्धि । भक्तिः सर्वमङ्गलानां सर्वसिद्धीनां च परमं कारणमिति विद्धि ।

अरे चित्त ! तुझे विचार करने की शक्ति है । धन, पुत्र आदि विषयों से तुझे वैराग्य करने की शक्ति है । तुम सर्वात्मना भगवान के चरणों के आश्रय में आ जाओ । बन्दर की तरह जो तुम्हारा चंचल स्वभाव है उसे छोड़ कर स्थिर हो जाओ । तुम भगवान के चरण का ही एकमात्र भजन करो।

भगवान की जो भक्ति है वही परम पुरुषार्थ का एकमात्र साधन है यह जानो । भगवान की भक्ति सम्पूर्ण मंगल और सारी सिद्धियों का

यथोक्तम्—

"लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषाममङ्गलम् ।
येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनं हरिः ॥"

भक्तेन भक्त्याऽप्राप्यं नास्ति किञ्चिद्वस्तु लोके । भगवानपि भक्तस्य भक्तो भवति । भक्तपरवशः सन् भक्तकैङ्कर्ये नितरां बद्धपरिकरो वर्तते भगवान् । अर्जुनसारथ्यादिकं तु भगवतो भक्तपारवश्यद्योतकं प्रसिद्धतरमितिहासादिषु ।

निदान है यह जानो । जैसा कहा गया है---

"उनको सर्व प्रकार के लाभ प्राप्त हैं, उन्हें विजय प्राप्त हैं और उनको किसी प्रकार का अशुभ नहीं हो सकता है जिनके हृदय में भगवान् हैं क्योंकि भगवान् मंगल के भण्डार हैं ॥"

भगवान् भक्त के अधीन हैं इस बात को भगवान ने अर्जुन के सारथि बन कर प्रमाणित कर दिया यह इतिहास आदि में प्रसिद्ध है ।

किञ्च भक्तिरनायासेनानुष्ठातुं योग्या। तस्याः सरणिः सुगमतरा प्रशस्ततरा च। योगादिमार्गास्तु क्लिष्टतराः। तत्र चलितुं केचिच्छक्नुवन्ति विरलाः। न तथा भक्तिमार्गः। अत एव भक्तिरहस्यवेदिना सूत्रितं श्रीनारदेन :—

"अन्यस्मात्सौलभ्यं भक्तौ" इति

कर्मध्यानज्ञानमार्गास्तु महद्भिरधिकारि-

भगवान की भक्ति विना परिश्रम से ही की जा सकती है इस लिये भक्ति-मार्ग अत्यन्त सरल और सर्वथा मान्य है। योग-मार्ग या अन्य मार्ग अत्यन्त कठिन है। उन पर कोई विरले ही पुरुष आरूढ़ हो सकते हैं। इस लिये भक्ति-मार्ग के रहस्य को जानने वाले श्री नारदजी ने कहा है—

"अन्य उपायों की अपेक्षा भक्ति-मार्ग में सुलभता है।" कर्म-मार्ग, ध्यान-मार्ग और ज्ञान-

भिराधिगन्तुमनुष्ठातुं च शक्या इति न ते सर्वेषां सुलभतराः भक्तिसाधनं तु साधारणै-रपि सम्यगनुष्ठातुं शक्यत इति महनीयोऽयं पन्थाः वर्णाश्रमवयोऽवस्थाऽव्यवस्थाभेदमन्त-रेणैव सर्वैः सर्वदा कर्तुं योग्या भक्तिरिति महदिदं वैलक्षण्यं भक्तेः । न तत्र कर्कशो-

---

मार्ग के अधिकारी सुयोग्य पुरुष ही हो सकते हैं इस लिये सब के लिये वे सुलभ नहीं हैं ।

भक्ति का जो साधन है वह साधारण जन से भी प्राप्त किया जा सकता है इस लिये यह मार्ग प्रशंसनीय है ।

भगवान की भक्ति के लिये किसी वर्ण विशेषकी आवश्यकता नहीं, किसी आश्रम की आवश्यकता नहीं, किसी अवस्था की आवश्यकता नहीं । सब वर्ण के लोग सब आश्रम वाले सब अवस्था वाले सदैव भगवान की भक्ति कर सकते हैं यही भक्ति की विशेषता है । उसमें वर्ण-अव-

वर्णनियमः। नाश्रमनियमः । न वयोनियमः नचावस्थानियमः । स्त्री,शूद्रश्चाण्डालः, पुल्कसो, म्लेच्छो, यवनो, हूणोऽन्यो वा यः कश्चित् बालो वा स्थविरो वा, यक्षो वा राक्षसो वा सर्वेऽपि भगवद्भक्तावधिकारिण इति, भगवन्नामजपगुणश्रवणकीर्तनध्याना-दीनां भजनकर्मणां न तान्प्रति प्रतिषेध

स्था का कठोर नियम नहीं है। आश्रम का भी नियम नहीं है। बाल्य, यौवन आदि वय का नि-यम नहीं है। किसी परिस्थिति का भी नियम नहीं है।

स्त्री, शूद्र, चाण्डाल, पुल्कस, म्लेच्छ, यवन, हूण य ।अन्य भी किसी जातिका बालक, वृद्ध, यक्ष या राक्षस सब कोई भगवद्भक्ति के अधि-कारी हो सकते हैं। भगवान के नामका जप, गुण-श्रवण, कीर्तन, ध्यान आदि जो भजन-कर्म

इत्यहो भक्तेर्महत्सौलभ्यम्। न केवलं गुह-शबरीप्रभृतयः पौराणिकाः,कबीरदास रैदास-प्रभृतय आधुनिकाश्चाप्रशस्तयोनयो मनुष्याः किन्तु जटायुगजेन्द्रप्रभृतयस्तिर्यग्जातयोऽपि भगवद्भक्तिपरा भगवन्तमीयुरिति सुविदितं पुराणेतिहासवेदिनाम्।

तदुक्तम्:—

हैं उनमें उनका भी प्रवेश हो सकता है। यह भक्ति की महती सुलभता है।

पुराणों में तथा कथित गुह, शबरी आदि और आधुनिक भक्त कबीरदास, रैदास प्रभृति नीच जाति के मनुष्य ही नहीं, किन्तु जटायु, गजेन्द्र आदि पशु-पक्षी तक भी भगवद्भक्ति-परायण होने से भगवान को प्राप्त कर चुके हैं यह पुराण, इतिहास जानने वालों को भली भांति विदित है। जैसा कहा है—

"दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः
खगामृगाःपापजीवाःसन्ति ह्यच्युततांगताः ॥
इति "भागवतम्"
'स्त्रियोवैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपियान्तिपरांगतिम् ।'
इति भगवानपि योषापुरुषभेदमन्तरेण
सर्वेषामपि यदि भक्ताश्चेत्परमां गतिमुपदि-

"व्रज (गोकुल) में निवास करने वाले, दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्री, शूद्र, पक्षी, मृग आदि पापी जीव गण भी भक्ति के द्वारा भगवान के स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं।" "भागवत"

"स्त्री, वैश्य और शूद्र ये सब भी भगवान के भजन से उत्तम गति को प्राप्त कर लेते हैं।" इस प्रकार श्री भगवान भी स्त्री-पुरुष के भेद के बिना ही सबके लिये, यदि वे भक्त हों परम कल्याण का कथन करते हैं।

शति। किञ्च कर्मादिष्विव न तत्र देशकालादिनियमापेक्षा, न च बाह्यपदार्थापेक्षा, न च हिंसादिदोषा इति भक्तेरन्यतो महानुत्कर्षः।

उक्तं हि भगवता भाष्यकारेण :—

"हिंसाद्रव्यान्तरपुरुषान्तरदेशकालादिनियमानपेक्षत्वमाधिक्ये कारणम्॥"

"विष्णुसहस्रनामभाष्यम्"

और भी भगवान की भक्ति में कर्म आदि की तरह देश, काल, पात्र की व्यवस्था नहीं रखी गई है। बाह्य उपकरण की जरूरत नहीं है और उसमें यज्ञ आदि की तरह हिंसा आदि दोष नहीं होते यह अन्य मार्गों से भक्ति की विशेषता है। भगवान भाष्यकार ने कहा है–

"अन्य मार्गों की अपेक्षा भक्ति-मार्ग की यह विशेषता है कि उसमें हिंसा, द्रव्यान्तर का परिग्रह, देश, काल आदि के नियम की अपेक्षा नहीं है।" "विष्णुसहस्रनामभाष्य"

अथ भगवतो नामोच्चारणं, गुणमाहा-त्म्यश्रवणञ्च केन वा पुरुषेण न कर्तुं शक्यते? यमनियमादि शमदमादि साधनसम्पद्राहितः कनिष्ठतमोऽपि साधकः सर्वमेव तद्भजनादिकर्म कर्तुं प्रभवतीत्यहो! भक्तिपथस्यान्यत्सौल-भ्यम्। व्याधावस्थः श्रीवाल्मीकिमहर्षिर्मुनि जनद्रोही दुराचारमूर्तिरासीत्। रामनामोच्चारणं

भगवान के नामोच्चारण, उनके गुण के माहा-त्म्य का श्रवण यह किस पुरुष से नहीं किया जा सकता है? यम, नियम तथा शम, दम आदि साधन-रहित साधारण जिज्ञासु जन भी भगवान के सर्व प्रकार के भजन को कर सकता है यह भक्ति-मार्ग की दूसरी सुलभता है।

महर्षि वाल्मीकि जो प्रथम व्याध थे। ऋषियों के विरोधी थे, दुराचार की मूर्त्ति थे और 'राम-नाम' उच्चारण करने के अधिकारी तक भी नहीं

कर्तुमपि स समर्थो नासीत्। भगवन्नामोच्चारणासमर्थः सोऽपि न नैराश्यं गमितः। महान्तो मुनयोऽतिनीचाधिकारिणस्तस्यापि भगवद्भजनं सुलभमकार्षुः। "मरा-मरा" इत्येतन्नामजापेन स भगवन्तं भजितुमारेभे। दृश्यतां भक्तियोगस्य सौलभ्यम्। को वा न समर्थः स्याद् भक्तिमार्गगमने ?

थे किन्तु वह भी भक्ति-मार्ग में विफल मनोरथ नहीं हुए। महर्षियों ने उन्हें निकृष्ट अधिकारी जान कर उनके लिये भी श्री भगवद्भजन का मार्ग सुलभ कर दिया। उस व्याध वाल्मीकि ने 'मरा-मरा' इस प्रकार उलटा 'राम-नाम' जप के द्वारा श्री भगवान का भजन आरम्भ किया। यह भक्ति-योग की सुलभता को देखो। अथवा भक्ति-मार्ग पर चलने में कौन नहीं समर्थ है ? अरे

अतो रे चेतस्त्वमपि सुलभं सुगममिमं भक्तिमार्गमवलम्ब्य भगवन्तं भज। भगवत्-प्रेमरसास्वादनेन जीवितं चरितार्थी कुरु। भक्तिरेव मुक्तिसाधनमिति जानीहि। ऐकान्तिकभक्तेरुदय एव पुरुषार्थस्य परिसमाप्तिरिति विद्धि। भक्तिशिखरमधिरूढस्य भग-

---

चित्त! इस लिये तुम भी सुलभ और सुगम इस भक्ति-मार्ग का अवलम्बन कर के भगवान का भजन करो। भगवान के प्रेम-रसास्वादन से अपने जीवन को सफल करो। भक्ति ही मुक्ति का साधन है यह जानो।

निश्चयात्मक रूप से भक्ति-भावना के प्रादुर्भाव होने से ही पुरुषार्थ की परिसमाप्ति हो जाती है अर्थात् समस्त पुरुषार्थ प्राप्त हो जाते हैं यह जानो। जो पुरुष भक्ति की अन्तिम सीमा पर आरूढ़ है, जिसका चित्त भगवान के चरण में

वत्पदसमर्पितचित्तस्य न संसाराद्भयं, न यमाद्भयं, न यमकिङ्कराद्भयम् । निर्भयपदाधिरोहिणी परमात्मभाक्तिरिति नितरान्निश्चिनु ।
तदुक्तम् :—
"एतावानेव लोकेस्मिन्पुसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥
इति ।

तल्लीन है उसको संसार का भय नहीं, यम का भय नहीं और यमदूत का भी भय नहीं है । भगवान की भक्ति करना ही अभय पद पर आरूढ़ होना है यह तुम निश्चय जानो । जैसा कहा गया है—

"मर्त्य-लोक में मनुष्यों के लिये यही कल्याण का मार्ग है कि भगवान की उत्कट भक्ति कर के अपने मन को भगवान में निश्चल भाव से लगा दे ।"

"सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह ।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्,
स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥"

इति च "श्रीमद्भागवतम्"

भक्त्या भगवान् सुष्ठु शीघ्रं प्रसीदति। भक्त्या भगवान् त्वरितमपुनर्भवं सायुज्यपदं

"जिनका मन भगवान के गुण-प्रेमी हो कर भगवान के चरण-कमलों में एक बार भी लग गया है, वे निष्पाप हो कर यमराज और फांस रखने वाले यमदूतों को स्वप्न में भी नहीं देखते हैं।"

"श्रीमद्भागवत"

भक्ति के द्वारा भगवान जल्दी और अच्छी तरह प्रसन्न होते हैं। भक्ति करने से भगवान् अपने उस सायुज्य पद का प्रदान करते हैं कि

प्रयच्छति। यथा भक्त्या भगवान् प्रसीदति, न तथा द्रव्यदानेन तपसा त्यागेन वा अन्येन केनाचित् कर्मणा वा। जातिवयोविद्यादयोऽपि न खलु भगवतः प्रसादकारणम्। आचरण-मपि न परमात्मनोऽनुग्रहकारणम्। ऐकान्तिकी भक्तिरेव भगवतस्तोषकारणमिति व्यासादीनां

जिसके प्राप्त होने से पुनर्जन्म नहीं होता है। भग-वान् भक्ति से जैसे प्रसन्न होते हैं वैसे न तो किसी धन आदि द्रव्य के दान करनेसे, न तपस्या से, न किसी प्रकार के त्याग से और न तो किसी प्रकार के कर्म करने से प्रसन्न होते हैं। जाति, वय और विद्या आदि कुछ भी भगवान की प्रस-न्नता के कारण नहीं हो सकते हैं। सदाचार पालन से भी भगवान की कृपा प्राप्त नहीं होती है। निश्चयात्मक रूप से की गयी भक्ति ही भगवान के संतोष का कारण है ऐसा व्यास

प्रतिश्रववचनम् ।

उक्तं हि :—

"न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥"

इति "भागवतम्"

"व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो-
विद्या गजेन्द्रस्य का ।

आदि महर्षियों का प्रतिज्ञा-वचन है। जैसा कहा गया है—

"दान, तप, यज्ञ, शौच और व्रत ये सब भगवान को प्रसन्न नहीं कर सकते हैं, केवल निष्कपट भाव से की गयी भक्ति ही भगवान को प्रसन्न कर सकती है और सब विडम्बना मात्र है।" "भागवत"

"व्याध का क्या सदाचार था ? ध्रुव की क्या उम्र थी ? गजेन्द्र की कौन-सी विद्या थी ?

कुब्जायाः किमु नामरूपमधिकं,
किं तत्सुदाम्नो धनम् ॥
वंशः को विदुरस्य यादवपते-
रुग्रस्य किं पौरुषम् ।
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणै-
र्भक्तिप्रियो माधवः ॥"
इति च ।

विशेषतोऽस्मिन् कराले कलिकाले ताप-

कुब्जा के कौन से नाम-रूप अच्छे थे ? सुदामा का धन क्या था ? विदुर का कौन सा वंश था ? यादव वंश के महाराज उग्रसेन का क्या पौरुष था ? किसी को कुछ भी गुण नहीं था, किन्तु भगवान् तो भक्ति से प्रसन्न होते हैं। गुणों से प्रसन्न नहीं होते हैं क्योंकि भगवान भक्ति के प्रेमी हैं।"

विशेष करके इस कराल कलि-काल में

त्रयतप्तानामनन्या गतिः परमात्मभक्तिरेव। वर्णाश्रममर्यादा वैधुर्यमुपगता। शरीरमनसोर्बलञ्च दुर्बलतां गतम्। यमनियमादयस्तु क्वापि दूरतः पलायिताः। वेदशास्त्रप्रामाण्यश्रद्धा च सुतरां प्रक्षीणतां गता। तथाविधे विषमिते दोषदूषिते काले हन्त! हन्त! वैदिकानामग्निहोत्रादिकर्मणां का नाम कथा?

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों तापों से परितप्त प्राणियों के लिये दूसरी कोई गति नहीं है। भगवान की भक्ति ही एकमात्र गति है। जिस कलि-काल में वर्णाश्रम की मर्यादा शिथिल पड़ी है, शारीरिक तथा मानसिक बल ढीला पड़ गया है। यम, नियम आदि सर्व साधन भी दूर भागे हुए हैं। वेद और शास्त्र की श्रद्धा भी बिलकुल क्षीण है, ऐसे विष-पूर्ण, दोष-दूषित काल में अहा! अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों की

प्राणायामप्रत्याहारादीनां का नाम वार्ता? अतः परमात्मसविधाधिगमने भगवद्भजनमेव मुख्योपाय इदानींतने काले। ततो रे चेतस्त्वमन्यत् सर्वमुज्झित्वा भगवन्नामोच्चारणकीर्तनस्मरणादिषु भजनाक्रियासु नितरां प्रवर्तस्व। कलिसर्पदर्पहरणे हरिभजनमहामन्त्र एव समर्थो नान्यत् किमपीति जानीहि।

कौन सी कथा है ? प्राणायाम, प्रत्याहार आदि योगाभ्यास की कौन सी वार्ता है ? अतः भगवान की शरण में प्राप्त हो कर इस काल में भगवान का भजन करना ही प्रधान साधन है।

अरे चित्त! तू अन्य सब को छोड़ कर भगवान के नामोच्चारण, कीर्तन, स्मरण आदि भजन क्रिया में तल्लीन हो जा। कलियुगरूपी सर्प के गर्व को हटाने के लिये भगवान की भक्तिरूपी महामंत्र ही सामर्थ्यवान् है और दूसरा कोई भी सामर्थ्य-

तदुक्तम् :—

"सत्यादित्रियुगे बोधो विरागो मुक्तिसाधकौ।
कलौ तु केवला भक्तिर्ब्रह्मसायुज्यकारिणी ॥"

इति "पद्मपुराणम्"

"हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥"

इति च "बृहन्नारदीयपुराणम्"

वान् नहीं है यह जानो। जैसा कहा गया है—

"सत्ययुग, त्रेता और द्वापर इन युगों में ज्ञान और वैराग्य मोक्ष के साधन माने गये हैं किन्तु कलियुग में केवल भक्ति ही ब्रह्म को प्राप्त करा देने वाली है यानी मोक्ष का साधन है।"

"पद्मपुराण"

"हरि के नाम, हरि के नाम, केवल हरि के नाम ही कल्याण के साधन हैं। दूसरी गति कलियुग में नहीं है, नहीं है, नहीं है।"

"बृहन्नारदीय पुराण"

"ध्यानं तपः सत्ययुगे त्रेतायां यज्ञकर्म च।
द्वापरे पूजनं दानं हरेर्नाम कलौ युगे॥"
इति च

अथ भक्तिः किं लक्षणेति चेच्छृणु। परमात्मानि परमप्रेमरूपा भक्तिः। "सा परानुरक्तिरीश्वरे" इति हि शाण्डिल्यसूत्रम्।

'सत्ययुग में समाधि और तपश्चर्या मोक्ष के साधन हैं, त्रेता में यज्ञ आदि कर्मकाण्ड, द्वापर में पूजन, दान और कलियुग में भगवान का नाम ही साधन है।"

अब भक्ति किसको कहते हैं यह सुनो। भगवान में जो परम प्रेम करना है अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा, भगवान में तल्लीन रहना ही भक्ति है।"

'भगवान में किया गया जो सर्वोत्कृष्ट अनुराग है वही भक्ति है यह शाण्डिल्य मुनि

परमात्मनि क्रियमाणो यो निरतिशयोऽनु-
रागः सा भक्तिरिति सूत्रार्थः । यथा विष-
यिणां विषयेषु गाढगाढं निरन्तरञ्च प्रेम तथा
आनन्दघने परमेश्वरेऽविनाशिनि यत्प्रेम सा
भक्तिरिति निष्कृष्टोऽर्थः ।

"द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसोवृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥"

इति च "भक्तिरसायने"

के सूत्र का अर्थ है । जिस प्रकार विषयी पुरुषों का स्त्री, धन, पुत्र आदि विषयों में प्रगाढ़, निरन्तर प्रेम रहता है उसी प्रकार जो नित्य, आनन्द-राशि भगवान में प्रेम करना है वही भक्ति है यह भावार्थ है ।"

"अपने धार्मिक कर्मों को भगवान में समर्पण कर देने से द्रवीभूत चित्तकी जो धारा-प्रवाह (निरन्तर) भगवान की भावना होने लगती है उसे भक्ति कहते हैं ।" "भक्तिरसायन"

भगवद्गुणश्रवणेन द्रवावस्थां गतस्य चित्तस्य ईश्वरविषयिकाऽविच्छिन्ना वृत्तिर्भक्तिरित्युच्यते

"मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।"

इति च "श्रीमद्भागवते"

कनिष्ठेषु योऽनुरागः सा दया, समा-

"भगवान के गुण श्रवण से चित्त द्रवीभूत हो कर उसकी जो अनुपल भगवान में स्थिति होती है वही भक्ति है।"

"जिस प्रकार गंगा-जल की स्वाभाविक गति समुद्र की ओर होती है उसी प्रकार मेरे गुण के श्रवणमात्र से सर्वव्यापक मुझ में जो निरवच्छिन्न मानसिक एकाकार गति है वही भक्ति है।"

"श्रीमद्भागवत"

अपने से छोटे में जो प्रेम है वह दया है, अपने समान व्यक्ति में जो प्रेम है वह स्नेह है,

नेषु योऽनुरागः स स्नेहः, श्रेष्ठेषु योऽनुरागः सा भक्तिरिति च प्रसिद्धतरं शास्त्रे लोके च। ईश्वरानुरागस्तु साधुसङ्गमेन तद्द्वारा पापनाशनेन, विषयवैराग्येण, सङ्गत्यागेन, भगवद्गुणमाहात्म्यश्रवणेन च समुत्पद्यते। "तत्तु विषयत्यागात्सङ्गत्यागाच्च" इति च नारदीयं सूत्रम्। साधुसङ्गम एव सर्वेषां श्रेयसां निदा-

---

अपने से श्रेष्ठ में जो प्रेम है वह भक्ति है यह शास्त्र और लोक दोनों में प्रसिद्ध है।

ईश्वर में जो प्रेम होता है वह साधुओं की संगति से पाप नाश होने पर विषयों के वैराग्य से, सङ्ग-त्याग से, भगवान के गुण के माहात्म्य के श्रवण करने से उत्पन्न होता है। "वह प्रेम विषय के परित्याग से और सङ्ग के त्याग से उत्पन्न होता है" यह नारद का सूत्र है। साधु-सङ्गति ही समस्त कल्याणों का मूल कारण है। पापी

नम्। साधुसङ्गेन पापी खलु निष्पापो भवति। अपवित्रः पवित्रो भवति। अविरक्तोऽपि विरक्तो भवति। ईश्वरविमुखश्चेश्वराभिमुखो- भवति। साधुसङ्गतिः सद्य एव पापतापादिकं सर्वमपहरति। सज्जनसम्पर्कोऽतिमात्रनिकृष्टमप्युत्कृष्टयाति। साधूनामनुग्रहादेव ईश्वरगुणश्रवणम्, ईश्वरप्रेम च समुपजायते।

पुरुष भी सत्संग के द्वारा पाप से रहित हो जाता है। अपवित्र पुरुष पवित्र हो जाता है। जो विरक्त नहीं है वह भी विरक्त अर्थात् संसार से उदासीन हो जाता है। जो भगवद्भक्त नहीं है वह भी भगवद्भक्त हो जाता है। सत्संग तो मनुष्यों के पाप-ताप को अविलम्ब विनष्ट कर देता है। सत्संग तो नीच पुरुष को उत्कृष्ट (महान्) बना देता है। ईश्वर के गुण का श्रवण करना और ईश्वर में प्रेम करना ये दोनों बातें

तस्मात् श्रेयःप्रार्थिभिः साधवः सदा समुप-
गन्तव्याः। तथाचोक्तम्:—

"नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारकाः,
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथवाङ् मनः।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं,
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥ १ ॥

महात्माओं की कृपा से ही होती हैं इस लिये कल्याण चाहने वाले पुरुषों को सत्संग सदा करना चाहिये। वैसा कहा भी गया है—

"अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारा, पृथिवी, जल, आकाश, वायु और वाणी, मन इन सबकी आराधना करने से पाप नष्ट नहीं होते हैं क्योंकि ये सब भेद-ज्ञान करने वाले हैं, किन्तु महात्माओं के क्षणमात्र की सच्ची सेवा करने से समस्त पाप विनष्ट हो जाते हैं ॥ १ ॥"

नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥२॥
गङ्गा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुर्हरेत्।
पापं तापं तथा दैन्यं सर्वं साधुसमागमः ॥३॥
इति "श्रीमद्भागवतम्"

गंगा आदि जलमय तीर्थ और मृत्तिका तथा प्रस्तरमय देवगण भी महात्माओं के समान पवित्र करने वाले नहीं हैं क्योंकि तीर्थ और देवगण तो मनुष्य को देर से पवित्र करते हैं और महात्मा लोग तो दर्शनमात्र से ही पवित्र करते हैं ॥२॥

गंगाजी पाप को विनष्ट करती है। चन्द्रमा ताप (गर्मी) को नष्ट करता है। कल्प वृक्ष दरिद्रता को हरता है और महात्मा लोगों का समागम तो पाप, ताप, दीनता सबको विनष्ट कर देता है ॥ ३ ॥" "श्रीमद्भागवत"

"महानुभावसम्पर्कः कस्य नोन्नतिकारणम्,
अशुच्यपि पयः प्राप्य गङ्गां याति पवित्रताम्।"
इति च "बृहदारण्यकवार्तिकम्"

सन्तो हि सन्त्यकारणकृपासिन्धवः। ते निसर्गत एव स्वाश्रितान् रक्षयन्ति विस्तृता विटपिन इव। यथा मत्स्यमहिला दर्शनेन,

---

महात्माओं के संग किस की उन्नति के हेतु नहीं बने हैं? अर्थात् महात्मा लोगों के संग करने से सबकी उन्नति होती है जैसे अपवित्र जल भी गंगा में मिल कर पवित्र हो जाता है॥

"बृहदारण्यक वार्त्तिक"

महात्मा लोग बिना मतलब के ही दया के समुद्र होते हैं। चारों तरफ फैले हुए वृक्ष जैसे अपने आश्रित की रक्षा करते हैं वैसे ही महात्मा लोग भी अपने शरणागत व्यक्ति की रक्षा करते हैं। जैसे मछली केवल दर्शन से, कछुवी केवल

कूर्मसहधर्मिणी ध्यानेन, पक्षिपक्ष्मलाक्षी च संस्पर्शेनात्मीयं शिशुं पालयति, तथा सज्जनोऽपि स्वसमाश्रितं पापतापाकुलं दीनजनं दर्शनस्पर्शनादिभिरुपदेशेन च रक्षयति स्नेहवात्सल्यचेतसा । तथाविधानां निसर्गदया-

ध्यान से, चिड़िया केवल स्पर्श करके अपने बच्चों को पालती है अर्थात् माता मछली की अपने बच्चे पर दृष्टि डालते रहने से ही उसका बच्चा सुरक्षित रहता है । मादा कच्छप अपने अण्डे का ध्यान करती रहती है उसीसे उसका बच्चा पलता है । चिड़िया अपने अण्डे का सेवन करके स्पर्श करती रहती है उसीसे उसका बच्चा पल जाता है । वैसे सज्जन पुरुष भी पाप, ताप से व्याकुल अपने आश्रित दीन व्यक्ति को प्रेम-पूर्वक अपना दर्शन देकर चरणके स्पर्श-दान आदि और अपने उपदेश के द्वारा रक्षा करते हैं।

निधीनां सङ्गतिः परम्परया भक्तिकारणमिति विद्धि।

साधुसमागमो महानुग्रहकारीति श्री नारदस्य चरित्रमपि महदुदाहरणम्। नारदमुनिस्तु पुरातने जन्मनि कस्याश्चन दास्यास्तनूजः प्रावृट्काले चातुर्मास्यव्रतमनुतिष्ठतां महात्मनां शुश्रूषणे प्रवृत्त आसीत्। दान्ते शान्तेऽचपले बाले समदर्शिनां योगिनां तेषां

वैसे अकृत्रिम दया की खान महापुरुष की संगति से क्रमशः भक्ति उत्पन्न हो जाती है यह तुम जानो।

साधु-महात्मा का संग महान् अनुग्रहकारी है इसका दृष्टान्त नारद का चरित्र है। नारद ऋषि पूर्वजन्म में किसी दासी के पुत्र थे। वह वर्षा ऋतु में चौमासे का व्रत करने वाले महात्माओं की सेवा-शुश्रूषा में लगे हुए थे। साहसी और शान्त उस धीर बालक के ऊपर उन सम-

कृपादृष्टिः सम्पतिता। तेषामेव शुश्रूषणेन सङ्गमेन च क्रमशस्तस्य चेतो विशुद्धिमगात्। भगवति धर्मे च रुचिः सञ्जाता। तैः कीर्त्यमाना वासुदेवकथाः स महत्या श्रद्धया शृण्वन्नासीत्। तथाच क्रमेण तस्य पुण्यश्लोके भगवति रतिश्चाभवत्। तथाचान्तरे जन्मनि महामुनिजनपूज्यमत्युत्तमं भगवद्भक्तपदं प्रापत्

दर्शी महात्माओं की कृपा-दृष्टि हो गयी, उन की शुश्रूषा से और संग से धीरे धीरे उसका मन शुद्ध हो गया। ईश्वर और धर्म में उसकी रुचि होने लगी। उन लोगों के द्वारा जो भगवान की कथा का प्रवचन होता था उसको वह बड़ी श्रद्धा से सुनता रहता था उससे पुण्यश्लोक भगवान में उसकी रुचि धीरे धीरे बढ़ने लगी। जिससे नारदजी ने दूसरे जन्म में महर्षि जन-दुर्लभ जो भगवान की भक्ति है उसे प्राप्त किया

नारद इति पुराणवेदिनां नाविदितम् । अहो ! साधुसङ्गममाहात्म्यम् । साधुसङ्गमः किं न कुरुते कल्याणम् ।

तस्मान्महात्मनां सङ्गम एव न केवलं भक्तेरपि तु सर्वेषां श्रेयसां मूलकारणमिति निश्चितोऽर्थः ।

"प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः ।

यह पुराण जानने वालों को विदित है । महात्मा के संग करने की आश्चर्य महिमा है । साधुओं के संग करने से कौन सा कल्याण नहीं हो सकता है इस लिये महात्माओं के संग केवल भक्ति का ही हेतु नहीं है किन्तु समस्त कल्याण का मूल कारण है यह निश्चित बात है ।

"पहले महात्माओं की सेवा करनी चाहिये, तब महात्माओं का दया-पात्र बनना चाहिये, तब

श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः ॥"
"ततो रत्यंकुरोत्पत्तिः ।"

इति च भक्त्युदये प्रथमकारणत्वेन महतां सेवैव निरूपिता श्रीमधुसूदनस्वामिभिः ।

"महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ॥"

उनके धर्मों में श्रद्धा होनी चाहिये तब भगवान का गुण-श्रवण करना चहिये ॥"

"इसके बाद भगवान के प्रेमाङ्कुर की उत्पत्ति होती है ।"

इस प्रकार भक्ति के उत्पन्न होने में महात्माओं की सेवा ही आदि कारण है यह श्री मधुसूदन स्वामी ने कहा है—

"महात्माओं की सेवा मुक्ति का द्वार है और स्त्री में आसक्त पुरुषों का संग करना नरक का द्वार है ।"

इति च महतां सेवा भक्तिहेतुत्वेन कीर्तिता श्रीमद्भागवते ।

सत्सङ्गत्यादीनां बहुप्रकाराणां भक्तिसाधनानां परम्परयाऽनुष्ठानप्रकारोऽध्यात्मरामायणे च सम्यक् प्रदर्शितः ।

"पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः।
न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम् ।१।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत में महात्माओं की सेवा भक्ति का हेतु कही गयी है ।

महात्माओं की संगति आदि जो अनेक प्रकार के भक्ति के साधन हैं उनके क्रम से अनुष्ठान करने की रीति भी अध्यात्म रामायण में अच्छी तरह दिखायी गयी है—

"पुरुष हो अथवा स्त्री हो किसी की भी जाति, नाम, आश्रम आदि की विशेषता मेरे भजन का कारण नहीं है किन्तु भक्ति ही कारण है ॥ १ ॥

यज्ञदानतपोभिर्वा वेदाध्ययनकर्मभिः ।
नैव द्रष्टुमहंशक्योमद्भक्तिविमुखैः सदा ॥२॥
तस्माद्भामिनि संक्षेपाद्वक्ष्येऽहं भक्तिसाधनम्।
सतां सङ्गतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम् ॥३॥
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्।
व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत्।४।

जो पुरुष मेरी (भगवान की) भक्ति से विमुख हैं वे यज्ञ, दान, तपस्या से अथवा वेद के अध्ययन करने से भी मेरा दर्शन नहीं कर सकते हैं ॥ २ ॥

हे सुन्दरि ! इस लिये मैं संक्षेप में भक्ति का साधन कहता हूं। भक्ति का पहला साधन महात्माओं का संग करना ही है ॥ ३ ॥

दूसरा साधन मेरी कथा का आलाप करना है, तीसरा साधन मेरे गुण का कथन करना है। मेरे द्वारा कथित वचनों का व्याख्यान करना चौथा

आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्याऽमायया सदा।
पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च ।५॥
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम् ।
मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते ।६॥
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः ।

साधन है ॥ ४ ॥

हे कल्याणि ! ईश्वर-बुद्धि से निष्कपटभाव से सदा आचार्य की आराधना करना और धर्मात्मा बनना यम आदि तथा नियम आदि धारण करना पञ्चम साधन है ॥ ५ ॥

मेरे पूजन में निष्ठा (श्रद्धाभाव) नित्य रखना छठा साधन कहा गया है । मेरे अंग-सहित मन्त्र का उपासक बनना सातवां साधन है ॥६॥

मेरे भक्तों का ज्यादा सत्कार करना, सर्व प्राणियों में ईश्वर-बुद्धि रखना तथा

वाह्यार्थेषु विरागत्वं शमादिसहितं तथा ।७।
अष्टमं नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि ?
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा ।८।
स्त्रियो वा पुरुषस्याऽपि तिर्यग्योनिगतस्य वा ।
भक्तिः संजायते प्रेमलक्षणा शुभलक्षणे ? ॥९॥
भक्तौ संजातमात्रायां मत्तत्त्वानुभवस्तदा ।

बाह्य विषयों में वैराग्य रखना और शम आदि साधन-सम्पन्न होना आठवां साधन है ॥७॥

हे कल्याणि ! मेरे तत्त्व का विचार करना नवां साधन है इस तरह नौ प्रकार की जो भक्ति है वह जिस किसी का भी साधन हो सकता है ॥ ८ ॥

हे शुभ लक्षणे ! स्त्री हो या पुरुष हो अथवा पशु-पक्षी हो सब को प्रेमरूप मेरी भक्ति उत्पन्न हो सकती है ॥९॥

भक्ति के उत्पन्न होते ही उस समय मेरे

ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि ॥१०॥
स्यात्तस्मात्कारणं भक्तिर्मोक्षस्येति सुनिश्चितम्।
प्रथमं साधनं यस्य भवेत्तस्य क्रमेण तु ॥११॥
भवेत्सर्वं ततो भक्तिर्मुक्तिरेव सुनिश्चितम्।
यस्मान्मद्भक्तियुक्ता त्वं ततोऽहंत्वामुपस्थितः॥

तत्त्वका अनुभव होने लगता है। अनुभव में मेरे स्वरूप के आने पर उसी जन्म में मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥१०॥

इस लिये मोक्ष का हेतु भक्ति है यह सब तरह से निश्चित है और पहला साधन अर्थात् महात्मों की संगति जिसको प्राप्त है उसको धीरे-धीरे सब साधन प्राप्त हो जाते हैं ॥११॥

तब उसकी भक्ति तो मुक्ति स्वरूप ही बन जाती है यह सर्वथा निश्चित है। जिससे तुम मेरी भक्ति रखती हो अतः मैं तुम्हारे पास आ गया हूं ॥१२॥

इतो मद्दर्शनान्मुक्तिस्तव नास्त्यत्र संशयः।"

इति।

नवविधा परमात्मनो भक्तिः प्रकारान्तरेण श्रीमद्भागवतेऽपि कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते।
"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥"

इति।

मेरे दर्शन से तुम को इस संसार से मोक्ष प्राप्त होगा इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।"

भगवान की नवधा भक्ति का उपदेश श्रीमद्भागवत में दूसरे प्रकार से किया गया है—

"भगवान के चरित्र का श्रवण करना, भगवान का कीर्तन करना, स्मरण करना, पाद-वन्दन करना, पूजन करना, स्तुति करना, दास बनना, सख्यभाव रखना और आत्म-समर्पण कर देना यही नवधा भक्ति कही गयी है॥"

तत्रैवान्यत्राऽपि भक्तेः कारणानीत्थं परम्परया निरूपितानि ।

"भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ !
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् ॥१॥
श्रद्धाऽमृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठायान्तु पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम २

भागवत में अन्य स्थान पर भक्ति के क्रमिक कारण इस प्रकार कहे गये हैं—

"हे निष्पाप ! तुम्हारी प्रसन्नता के लिये मैंने भक्ति-योग का वर्णन पहले ही कर दिया है फिर भी मेरी (भगवान की) भक्ति के मुख्य कारण को बतलाता हूं ॥१॥

मेरी अमृतरूपी कथा में श्रद्धा रखना, सदा मेरा कीर्तन करना, निष्ठा-पूर्वक मेरी पूजा में स्तुतियों के द्वारा मेरी स्तुति करना ॥ २ ॥

आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥३॥
मदर्थे त्व(ष्व)ङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणञ्च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥४॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थे यद् व्रतं तपः ॥५॥

मेरे सत्कार में आदर रखना, समस्त शरीर से मेरा अभिवादन करना, मेरे भक्तों की मुझ से भी ज्यादा पूजा करना, समस्त प्राणियों में ईश्वर-बुद्धि रखना ॥३॥

मेरे लिये शारीरिक चेष्टा करना, वचन से मेरे गुण का कीर्तन करना, ईश्वर में अपने मन को अर्पण कर देना और सर्व काम का परित्याग करना ॥४॥

मेरे लिये धन, भोग और सुख सब का परित्याग कर देना। यज्ञ, दान, हवन, जप, तप और

एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयिसंजायतेंभक्तिःकोन्योऽर्थोस्यावशिष्यते।६।'
इति।

अतो रे मनः ! प्रथमतः सत्संगं कुरु। दुःसंगश्च दूरतः परित्यज। यथा सत्संग उन्नति-कारणं तथा दुःसंगोऽवनतिकारणमिति जानीहि। दुर्जनानां भगवद्विमुखानां संगेन

जो कुछ भी व्रत हों मेरे लिये करना ॥५॥

हे उद्धव ! मुझ में आत्म-समर्पण करने वाले मनुष्यों के उक्त धर्मों के रहने से मुझ परमात्मा में भक्ति उत्पन्न हो जाती है उसका दूसरा कोई भी पुरुषार्थ बांकी नहीं रह जाता है ॥६॥

इस लिये रे मन ! पहले तुम सत्संग करो। दूर से ही नीच व्यक्ति या नीच वस्तु का संग छोड़ो। जैसे सत्संग उन्नति का कारण हैं वैसे नीच-संग भी अधोगति का कारण है यह जानो। भगवान से विमुख जो दुष्ट जन हैं उनके संग

भगवद्वैमुख्यं तेषां संगत्यागेन सतां संगेन च भगवदाभिमुख्यं च भवति । कुसंगो न केवलं भगवद्भक्तेः।किन्तु लौकिकानां सर्वेषामपि श्रेयसां प्रतिबन्धक इति विद्धि ।

उक्तं हि :—

"अतःसङ्गः परित्याज्यो दुष्टानां सर्वदैव हि।

करने से भगवान से विमुखता (अरुचि) हो जाती है और उन नीच व्यक्तियों के सङ्ग-परित्याग करने से तथा सज्जन पुरुषों के सङ्ग करने से भगवान में रुचि हो जाती है । कुसङ्ग केवल भगवद्भक्ति का ही प्रतिबन्धक नहीं है किन्तु लौकिक समस्त कल्याणों का भी प्रतिबन्धक है यह जानो । जैसा कहा गया है—

"इस लिये दुष्ट पुरुषों का सङ्ग सदा त्याग करना चाहिये क्योंकि दुष्ट-संग करने वाला मनुष्य अपने अभिलषित वस्तु से च्युत हो जाता है जैसे

दुःसङ्गी च्यवते स्वार्थाद्यथेयं राजकन्यका ॥"

इति "अ० रा०"

"वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥"

इति च "वैराग्यशतकम्"

तस्मात्कुसंगं दूरतस्त्यक्त्वा सर्वदा सत्संग-निरतो भव। ततश्च भगवद्गुणमाहात्म्यं

यह राजकन्या अपने स्वार्थ से च्युत हो गयी है।"

'अ० रा०"

"जंगली लोगों के साथ पर्वतों के दुर्गम प्रदेशों में भ्रमण करना अच्छा है किन्तु इन्द्र के महल में भी दुष्ट जन का सम्पर्क अच्छा नहीं है।"

'वैराग्यशतक"

इस लिये कुसंग का सर्वथा त्याग करके सदा सत्सङ्ग में रत हो जाओ और तब भगवान के गुण-माहात्म्य को सुनो। सुन कर उसमें

शृणु, तत्र श्रद्धां विधेहि। भगवद्गुणान् सततं कीर्तय। भगवतः पवित्रनामान्य विरतं जप। भगवत्तत्त्वं स्मर। तच्चरणपंकजे प्रचुरप्रमोदेन परिचर। तस्य पूजनवन्दनादिके निरतो भव सर्वदा। एवं भगवतो निरतिशयां निष्कलङ्काञ्च भक्तिं सम्पादय। सेवकभावेन भगवन्तमित्थं जानीहि—अहं संसारी,

---

श्रद्धा करो। भगवान के गुणों का सदा कीर्तन करो। भगवान के पवित्र नामों का सदा जप करते रहो। भगवान के तत्त्व का स्मरण करो। खूब प्रसन्नता के साथ भगवान के चरण-कमलों की परिचर्या करो। भगवान के पूजन, स्तुति आदि में सदा तत्पर रहो। इस प्रकार भगवान की असीम निष्कलङ्क भक्ति का सम्पादन करो।

सेवकभाव से भगवान को इस प्रकार जानो कि "मैं संसारी जीव हूं, मैं सुखी, दुःखी, अल्पज्ञ,

सुखी, दुःखी, अल्पज्ञः, परतन्त्रः, कर्त्ता, भोक्ताऽस्मि। त्वन्तु सर्वज्ञः, स्वतन्त्रोऽकर्त्ता, अभोक्ताऽसंसारी। सच्चिदानन्दघनः सर्वनियामकः करुणानिधिरसि। अतो दास्यभावेन तं सर्वेश्वरं स्वामिनमनवरतमित्थं प्रार्थय। दीनस्वरेण दीननाथं दयानिधिमिदं याचस्व।

परतन्त्र और कर्म-कर्त्ता तथा फल-भोक्ता हूं और आप तो सर्वज्ञ, स्वतन्त्र हैं। आप कर्म-कर्त्ता भी नहीं हैं और फल-भोक्ता भी नहीं हैं। आप संसारी नहीं हैं। आप तो सत्-चित्त-आनन्द मय हैं, सबके अपने अपने कर्मानुसार आप शासक हैं, आप दया के समुद्र हैं।" इस प्रकार सबके ईश्वर उस स्वामी की सदा दासभाव से प्रार्थना करो। उस दयानिधि दीनजन के स्वामी से दीन स्वर से इस प्रकार याचना करो कि

हे परमात्मन्! हे भक्तप्रिय! करुणाकर! देवाधिदेव! सर्वाभीष्टप्रद! पापहारिन्! हे विश्वम्भर! इयन्तमेवार्थं त्वामहं याचे यद्भवच्चरणसरोजे मम जन्मनि जन्मनि भवत्प्रसादाद्भक्तिरस्तु। कान्ताकनकाद्यासक्तानां यथा तेष्वभंगुरा प्रीतिस्तथा तव मञ्जुलचरणयोर्मेऽस्तु सदा। उक्तं हि :—

हे परमात्मन्! हे भक्तप्रिय! हे करुणाकर! हे देवताओं के भी देवता! हे सर्व अभिलषित पदार्थों के देने वाले! हे पाप-मोचन! हे विश्वम्भर! मैं आप से केवल यही याचना करता हूं कि आप की कृपा से मेरे प्रत्येक जन्म में आपके चरण-कमल में मेरी भक्ति हो। कान्ता (स्त्री) कनक (सुवर्ण) आदि पदार्थों में आसक्त पुरुषों का जैसे उनमें स्थायी प्रेम रहता है वैसे ही आपके सुन्दर चरणों में सदा मेरी प्रीति बनी रहे। क्योंकि कहा गया है—

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु ॥"
इति विष्णुपुराणम्

हे हृदयगुहावासिन् ! त्वच्चरणाम्भोज-भक्तिरसायनं ये पिबन्ति, ते संसारे न मुह्यन्ति । हे प्रभो ! मम यज्ञदानादिकरणेनामुष्मिकवित्तसम्पादनेऽथवैहिकवित्तसम्पादने

'अविवेकी पुरुषों की जो अटल प्रीति विषयों में रहती है वह प्रीति आपके स्मरण करते हुए मेरे हृदय से न हटे ॥" "विष्णुपुराण"

हे प्राणियों के हृदयरूपी गुहा में रहने वाले ! जो प्राणी आपके चरण-कमल की भक्तिरूपी रसायन (महौषध) का पान करते हैं वे संसार में मोहित नहीं होते हैं ।

हे प्रभो ! यज्ञ, दान आदि साधनों के द्वारा पारलौकिक धन के सम्पादन करने में अथवा

कामोपभोगे यशसि वा प्रवृत्तिर्माऽस्तु। यद्य-द्भव्यं पूर्वकर्मानुरूपं तत्तद्भवतु नाम। तत्र किमर्थो व्यवसायः ? व्यवसायस्तु ममास्तु नितरां तव चरणस्मरणकर्मणि। मम निवासः स्वर्गे वा नरके वा भुवि वा पाताले वा भवतु। देवत्वं नरत्वं कीटत्वं पशुत्वं वा मम भवतु।

ऐहिलौकिक धन-सम्पादन करने में, कामनाओं के उपभोग में या यश में मेरी अभिरुचि न रहे। पूर्व जन्म के अनुसार जो होनहार है वह होवे। क्यों उसमें प्रयत्न करना है। मेरा प्रयत्न तो आपके चरणों के स्मरण करने में बना रहे।

स्वर्ग में या नरक में मेरा निवास हो, मर्त्य-लोक में अथवा पातालमें हो। देव, मनुष्य, कीट-पतङ्ग, पशु जो कुछ भी मैं बनूं किन्तु प्रत्येक

तत्तल्लोकषु तत्तच्छरीरेषु सर्वेष्वपि यदि त्वच्च-रणाम्भोजभक्तिर्निश्चला मम हृदि स्यात्, तर्हि लोकभेदेन शरीरभेदेन वा किं भवेत् । तथा चोक्तं भगवत्पादैः—

"नरत्वं देवत्वं नगवनमृगत्वं मशकता,
पशुत्वं कीटत्वं भवतु विहगत्वादिजननम् ।
सदा त्वत्पादाब्जस्मरणपरमानन्दलहरी-

लोक में प्रत्येक शरीर में भी यदि आप के चरण-कमलों की निश्चल भक्ति मेरे हृदय में बनी रहे तो किसी लोक में निवास करने से या किसी शरीर के होने से ही क्या हानि हो सकती है। परम पूज्य श्री शङ्कराचार्य ने भी वैसा कहा है–

मनुष्यत्व या देवत्व प्राप्त हो अथवा पर्वत के जंगलों का मृगत्व ही क्यों न हो या मच्छर, पशु, कीट हों अथवा पक्षी आदि की योनि ही क्यों न मिले किन्तु आपके चरण-कमल के स्मरण करने

विहारासक्तं चेद्धृदयमिह किन्तेन वपुषा॥"
इति "शिवानन्दलहरी"

तिरस्कृत्य सर्वचिन्तनं, त्वच्चरणौ मरणेऽपि जन्मजन्मान्तरेष्वप्यहं चिन्तयेयमिति-तदर्थमनुग्रहं कुरु। सामर्थ्यं देहि। मम वृत्तिः परमात्मन्यपारकरुणासिन्धौ त्वय्येव रमताम्। भगवच्चरणस्मरणाऽमृतेन तुल्यमपरं सुखतर-

---

से उत्पन्न जो असीम आनन्द है उसकी लहर में विहार करने के लिये यदि हृदय लव-लीन हो तो उस शरीर से क्या हानि है?" 'शिवानन्दलहरी'

समस्त वस्तुओं का चिन्तन छोड़ कर केवल आपके चरणों का मैं मृत्यु-काल में और जन्म-जन्मान्तर में भी चिन्तन करूं ऐसा आप अनुग्रह करें। हे प्रभो! शक्ति प्रदान करो। अपार करुणा के सिन्धुरूप आप ही में मेरी वृत्ति रमण करें। भगवान के चरण के स्मरणरूपी अमृत के समान

महं किञ्चिदपि न जाने। ततो विषयध्यानतो मां निवर्तय।

यत उक्तम्:—

"विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥"

इति "श्रीमद्भागवतम्"

अहो! विषयध्यानं तद्भोगश्चातिमात्र-

मैं अन्य किसी को भी महान् सुख-कर नहीं जानता हूं इसलिये विषयों के ध्यान से मुझे निवृत्त करो। क्योंकि कहा गया है–

"विषयों के ध्यान करने से चित्त विषयों में आसक्त होता है और मेरे ध्यान करने से चित्त मुझ भगवान ही में लीन हो जाता है॥"

"श्रीमद्भागवत"

यह कैसा आश्चर्य है कि विषयों का चिन्तन और विषय-भोग अत्यन्त दुःख के हेतु हैं यह

दुःखहेतुरिति जानन्नापि ततो निवर्तितुमहं न प्रभवामि। पापप्रेरणया तत्र पुनःपुनः प्रवृत्तिर्मम जायते। हन्त! हन्तैवमघनिधेर्मोघ-यत्नस्य मोघाऽशस्य मोघज्ञानस्य मम, हे पाप हारिन्! त्वत्कृपैव शरणं, नान्या गतिः। अतो हे गोविन्द! हे प्रभो! विषयवासनाकालु-ष्यान्मां सर्वतः सर्वदा पाहि।

जानता हुआ भी मैं उनसे निवृत्त नहीं होता हूं। पापों की प्रेरणा से उन विषयों में बार-बार मेरी प्रवृत्ति होती है। बड़े खेद की बात है कि मैं पाप की खान हूं, मेरा प्रयत्न व्यर्थ है। मेरी आशा व्यर्थ है, मेरा ज्ञान व्यर्थ है। हे पाप-मोचन! आप की दया ही शरण है। अन्य गति नहीं है, इस लिये हे गोविन्द! हे प्रभो! विषयों की वासनारूपी पाप से सदा और सर्वथा मेरी रक्षा करें। हे वाञ्छित पदार्थ देने वाले! हे

हे कामद ! करुणानिधे ! भवद्दासोपरि करुणादृष्टिः सर्वदा भवतु ! द्वन्द्वसमीराहतानां पुत्रकलत्राभारकर्शितानां भवसागरगतानां नराणां शरणं त्वमेव पोतरूपेण भवसि भवेऽस्मिन्। अपराधशतसंव्याप्तं भीमभवार्णवे पतितमगतिं शरणागतं संसारदावानलतापतप्तं मां प्रभो ! अव । संसारदुःखघाति-

---

करुणानिधे ! आपके इस दास पर करुणा दृष्टि सदा बनी रहे। सांसारिक दुःख-द्वन्द्वरूपी वायु से आहत और पुत्र-कलत्र के भार से खिन्न तथा संसाररूपी समुद्र में पड़े हुए मनुष्यों की नौका स्थानीय आप ही इस जगत में शरण हैं।

हे प्रभो ! मैंने सैकड़ों अपराध कर डाला है। मैं संसाररूपी भयानक समुद्र में गिरा हूं। मेरा कोई सहारा नहीं है। मैं संसाररूपी दावानल के परिताप से तप्त हूं। मैं आप के शरणागत हूं,

मातनुष्व । एतं भवसिन्धुं कथं तरेयम् ? का वा मे गतिः ? कतमो मेऽस्त्युपायः ? हे हरे ! अहं न जाने किञ्चित् । त्वमेव मां रक्ष, त्वमेव मे शरणं, त्वामेवाहमाश्रयामि । अव माम् । अव माम् ।

"इतः परन्त्वच्चरणारविन्दयोः,
स्मृतिः सदा मेऽस्तु भवोपशान्तये ।

मेरी रक्षा करें । संसार की यातनाओं को हटाओ। इस संसार-समुद्र को कैसे पार करूंगा ! कौन मेरा सहारा होगा ! कौन सा मेरा उद्योग है ! हे भगवान् ! मैं कुछ भी नहीं जानता हूं । आप ही शरण हैं । मैं आप ही के आश्रय में हूं । मेरी रक्षा कीजिये, मेरी रक्षा कीजिये ।

"संसार से निवृत्ति पाने के लिये अब से आप के चरण-कमलों की स्मृति सदा मेरी बनी रहे ।

त्वन्नामसङ्कीर्तनमेव वाणी,
करोतु मे कर्णपुटं त्वदीयम् ॥
कथामृतं पातु करद्वयं ते,
पादारविन्दार्चनमेव कुर्यात् ।
शिरश्च ते पादयुगप्रणामं,
करोतु नित्यं भवदीयमेवम् ॥"

इति "अ॰ रा॰"

यद्विराधेन सर्वदा सर्वेन्द्रियैस्तव सेवनं

मेरी वाणी केवल आपके नाम का सम्यक् कीर्तन करे, मेरे कर्ण आपकी कथारूपी अमृत का केवल पान करते रहें। मेरे दोनों हस्त केवल आपके चरण-कमलों के पूजन करते रहें और मेरा मस्तक भी आपके दोनों चरणों को ही नित्य प्रणाम करता रहे॥"

इति "अ॰ रा॰"

हे करुणासिन्धु ! विराध ने समस्त इन्द्रियों-

सम्प्रार्थितं तन्मह्यमपि दयया देहि। हे करुणासिन्धो ! कारुण्यपूर्णदृष्ट्या निरीक्ष्य अभीतिं देहि। हे प्रभो ! सन्तप्तं भवतापदावदहनज्वालाभिर्मां रक्षय। हे नतलोकबन्धो ! कारुण्यसिन्धो ! भवाब्धौ पतितमात्मीयकटाक्षपातेन मां भीतं प्रपन्नं मृत्योः परि-

---

द्वारा आपकी जिस सार्वदिक सेवा की याचना की थी वही आपकी सेवा मुझे भी प्राप्त हो। करुणा-पूर्ण दृष्टि से देख कर आप अभय प्रदान करें। हे प्रभो ! संसार के तापरूपी दावानल (वन की आग) की ज्वालाओं से मेरी रक्षा करें। हे भक्त-बन्धु ! हे करुणा-सिन्धु ! संसाररूपी समुद्र में गिर चुका हूं, मैं त्रस्त और आपकी शरणागत हूं, अपनी किञ्चित् दृष्टि-पात के द्वारा मृत्यु से मेरी रक्षा करें क्योंकि मैं किसी अन्य को

पाहि। शरण्यमन्यद्यदहं न जाने।

मनसा यन्मया चिन्तितं वचसा यदुक्तं करचरणादिभिर्यद्विचेष्टितम्, निशासु दिवसेषु च यत्कृतं, तत्सर्वं तवार्चनमेव भूयात्। सम्पुटीकृतेनाञ्जलिना, नतेन शिरसा, रोमोद्गमैर्गात्रैः, स्वरगद्गदेन कण्ठेन, बाष्पाम्बुपूर्णेन नयनेन, त्वच्चरणयुगलध्यानसुधाऽस्वादमत्तया

शरणागत-वत्सल नहीं जानता हूं।

मैंने मन से जो चिन्तन किया है, वाणी के द्वारा जो कुछ कथन किया है, हस्त-चरण प्रभृति से जो कुछ भी व्यापार किया है, रात में या दिन में जो कुछ भी किया है, सब कुछ आप के ही अर्चन हों।

कर-बद्ध अञ्जलि से, नम्रीभूत मस्तक से, रोमाञ्चित समस्त शरीर से, स्वर-गद्गद कण्ठ से, आंसू भरी आंखों से, आपके दोनों चरणों के

वृत्त्या चास्माकं जीवितं सततं सम्पद्यताम्।

हे भगवन्! लोकाः सुधां परित्यज्य विषं पिबन्ति। भागवतानि पवित्रनामानि त्यक्त्वा मूर्खा अनुपकारान् ग्रन्थान् पठन्ति। धिक् तान्। हे वेदवेदान्तवेद्य! मम प्रयाण-समयेऽयाच्यमक्षय्यमक्षय्यं पापहरं मोक्षदं तव नामामृतं मम वृत्तिर्वाक् च पिबतु।

ध्यान रूपी अमृत के आस्वाद से मत्त (तन्मय) अन्तःकरण की वृत्ति से सदा हमारा जीवन सम्पन्न रहे।

हे भगवन्! लोग अमृत का परित्याग कर के विष का पान करते हैं। मूर्ख लोग भगवान के पवित्र नामों को छोड़ कर उपकार नहीं करने वाले ग्रन्थों को पढ़ते है, ऐसे लोगों को धिक्कार है। हे वेद-वेदान्त के द्वारा जानने योग्य! मेरी चित्तवृत्ति और मेरी वाणी अन्त समय में आपके अयाचनीय, अक्षय, अविनाशी, पाप-नाशक और मोक्ष-प्रद नाम

हे जगदन्तरात्मन्! तुभ्यमनन्तनमस्कारवचनमस्तु। मनसा वाचा कर्मणा च त्वां भक्त्या प्रणमामि। हे परात्मन्! त्वं ब्रह्मणोऽप्यादिकर्ताऽसि। हे अनन्तदेवेश! जगन्निवास! त्वमक्षरोऽसि, वेदान्तेषु श्रूयते यत्तत् त्वं सतोऽसतश्च परोऽसि। त्वमादिदेवोऽसि। जगतः स्रष्टासि। सर्वासु पूर्षु शय-

---

रूपी अमृत का पान करे। हे जगत के अन्तरात्मा! आपके लिये असंख्य नमस्कार के वचन हों। मन से, वचन से और कर्म से भक्ति-पूर्वक मैं आप को प्रणाम करता हूं। हे परमात्मा! आप ब्रह्मा के भी आदि कर्त्ता हैं। हे अनन्त देवेश! हे जगत के आधार! आप अविनाशी हैं, वेदान्त शास्त्रों में जो सुना जाता है वही आप सत् और असत् के परे हैं। आप आदि देव हैं। आप जगत के उत्पादक हैं। समस्त पुर में (शरीरों में)

नात् त्वमेव पुरुषोऽसि। चिरन्तनस्त्वमेवाऽसि। अस्य विश्वस्य प्रकृष्टं निधानमपि त्वमसि। त्वं सर्वस्यैव वेद्यजातस्य वेदिताऽसि। यच्च वेदनार्हमस्ति तदपि त्वमसि। हे देवेश! त्वयेदं समस्तं व्याप्तम्। हे अनन्तरूपात्मन्! तव रूपाणामन्तो नास्ति। त्वं वायुरसि। त्वं यमोऽसि। त्वमपांपतिर्वरुणोऽसि। त्वं

शयन करने अर्थात् रहने से आपकी पुरुष संज्ञा है। आप ही सनातन हैं। इस विश्व का सर्व उत्कृष्ट निधि भी आप ही हैं। आप समस्त वस्तु के ज्ञाता हैं और जो जानने योग्य है वह भी आप ही हैं। हे देवों के ईश! आप से यह सारा जगत् व्याप्त है। हे अनन्त स्वरूपात्मा! आप के रूपों का अन्त नहीं है। आप वायु हैं। आप यम हैं। आप जल के स्वामी वरुण हैं। आप चन्द्र हैं।

चन्द्रमा असि । त्वं कश्यपादिः प्रजापतिरसि । अनेकसहस्रं भूयोऽभूयोऽपि नमोनमस्ते । त्वदन्या मम गतिर्नास्ति । श्रद्धाभक्त्यातिशयेनाऽपरितोषेण च भूयो भूयस्त्वां नमस्करोमि । पूर्वस्यां दिशि तुभ्यं नमः, पृष्ठतोऽपि तुभ्यं नमः, सर्वासु दिक्षु तुभ्यं नमः । मलीमसमनस्तया पुत्रकलत्रादिषु धनमानादिषु

आप कश्यप आदि प्रजापति हैं । बार-बार आपको सहस्रों नमस्कार हों । आपके सिवाय मेरी गति नहीं है । मैं श्रद्धा और भक्ति-भाव से आपको बार-बार अतृप्त रूप से नमस्कार करता हूं । पूर्व दिशा में आपको नमस्कार है । पृष्ठ-भाग में भी आपको नमस्कार है । सारी दिशाओं में आपको नमस्कार है । अत्यन्त मलिन मन रहने के कारण पुत्र-स्त्री आदि तथा धन-मान आदि में आसक्ति

चासक्त्या त्वच्चरणाम्बुजस्मृतिमन्तरेण यत् किञ्चिदागः कृतवान् तत् सर्वं हे अच्युत! क्षमस्व। नीचैः शरीरं कृत्वा त्वामीशितारमीड्यं प्रणमामि पुत्रस्यापराधं पिता यथा क्षमते, यथा प्रियाया अपराधं प्रियः क्षमते, तथैव मेऽपराधं त्वं क्षन्तुमर्हसि।

त्वं शरणागतवत्सलोऽसि, त्वं निजभक्तदुःखहरोऽसि। त्वं कामारिरसि, त्वं

रहने के कारण आपके चरण-कमलों के स्मरण नहीं करके मैंने जो अपराध किये हैं, हे अच्युत! उन्हें आप क्षमा करें। शासक और स्तुति-योग्य आपको मैं दण्डवत् प्रणाम करता हूं। जैसे पुत्र के अपराध को पिता क्षमा करता है, पत्नी के अपराध को पति क्षमा करता है वैसे ही आप मेरे अपराध को क्षमा करें।

आप शरणागत-वत्सल हैं। आप अपने भक्त के दुःखों का हरण करने वाले हैं। आप काम के

शत्रुनाशकोऽसि, त्वं बलानामपि बलमसि, इति श्रुत्वा मत्त्वा त्वामेव नितरां शरणं प्राप्तुमिच्छामि। मां रक्ष रक्ष। कामक्रोधलोभमात्सर्यादिशत्रुभ्यो मां नितान्तं रक्षय। तव स्मरणकीर्तनादिभिर्ममायुर्व्यतिगच्छतु। हे हरे! मामचिरेणात्मसात्कुरु।

एवं द्रुतभावेन निरन्तरं प्रार्थयत् भो

शत्रु हैं। आप शत्रु-नाशक हैं। आप बलों के भी बल हैं। यह सम्पूर्ण शास्त्रों में सुनने और मनन करने से मैं आप ही की शरण पाने की सर्वथा इच्छा करता हूं। मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। काम, क्रोध, लोभ और ईर्ष्या आदि शत्रुओं से मेरी सर्वथा रक्षा करें। आपके स्मरण और कीर्तन आदि करने में ही मेरी आयु बीत जाय। हे हरे! आप शीघ्र ही मुझे अपने में लीन कर लें।

हे चित्त! इस प्रकार विनम्रभाव से सदा प्रार्थना

चेतस्त्वम्भगवदेकपरं भव । भगवदेकपरायणं भव । भगवन्मञ्जुलस्वरूपैकस्मृति भगवदेकजीवनं भगवदेकप्रमोदञ्च भव । अपि च भगवदेकरति भगवदेकक्रीडं भगवदेकसन्तोषञ्च भव । एवं भगवद्भक्तिरसास्वादरसिकं भव । भक्तिसाम्राज्यसम्राड् भव । भगवत्स्मृति-

---

करते हुए एकमात्र भगवान में तत्पर हो जाओ । एकमात्र भगवान में ही लव-लीन रहो । केवल भगवान के सुन्दर रूप का ही स्मरणशील बनो, भगवान में ही एकमात्र जीवन, भगवान में ही एकमात्र प्रमोदशील बनो और भगवान में ही एकमात्र प्रेम, भगवान में ही एकमात्र क्रीड़ा और भगवान में ही एकमात्र सन्तोष-शील बनो । इस प्रकार भगवद्भक्ति के रस के आस्वादन करने का रसिक हो जाओ । तुम भगवान की भक्तिरूपी विशाल राज्य के सम्राट् बनो । भगवान की प्रति-

सन्तानसंमोदसुधां नितरां पिब । यदि च भावबलेन भगवतो नितान्तचिन्तने त्वमसमर्थस्तर्हि पतञ्जलिप्रोक्ताष्टाङ्गयोगसाधनेनाऽपि क्रमश आत्मानं स्वाधीनीकृत्य तस्मिन्निरोद्धुं नितरां प्रयतस्व ।

भगवन्नामसुधाञ्च सुतरामितरानपेक्ष-

पल स्मृति के आनन्द रूप अमृत का पान अच्छी तरह करो। यदि तुम भक्ति-भाव के द्वारा सुचारु-रूप से भगवान के चिन्तन करने में असमर्थ हो तो पतञ्जलि के द्वारा कथित अष्टाङ्ग-योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) साधन के द्वारा भी क्रमशः अपने को अधीन कर के विषयों से निरोध करने का अच्छी तरह प्रयत्न करो।

अन्य किसी की अपेक्षा न रख कर केवल भगवान के नाम रूपी अमृत का स्वाद लेते रहो।

मास्वादय। नामजपयज्ञस्तु सुकरोमहत्तर-श्चेति विद्धि। द्रव्यादियज्ञेभ्यः श्रेष्ठतरः फल-वत्तरश्च जपयज्ञः।

उक्तं हि भगवता—

"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि" इति।

"तज्जपस्तदर्थभावनम्"

इति सूत्रितश्च महर्षिणा श्रीपतञ्जलिना

भगवान के नाम का जपरूप यज्ञ सरल और बड़ा महत्त्वपूर्ण है यह जानो। द्रव्य आदि के द्वारा सम्पन्न होने वाले यज्ञों की अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ और उत्कृष्ट फल-जनक जप यज्ञ है। श्री भग-वान ने कहा है—"सब यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूं।"

"भगवान के नाम का जप करना और उसके अर्थ का मनन करना चाहिये।" यह महर्षि श्री पतञ्जलि ने भगवान के नाम का जप-माहात्म्य-

भगवन्नामजपमाहात्म्यम् । तस्मात् परमेश्वर-नामजपकर्मणि विशेषतः प्रवर्तस्व । जपयज्ञा-नुष्ठाननिष्ठया प्रेष्ठतमं परमेष्ठिवन्द्यं परमात्मानं प्राप्तुं नियतं प्रयतस्व ।

"ॐनमो भगवते वासुदेवाय"

"हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥"

वर्णन सूत्र द्वारा किया है। इस लिये परमेश्वर के नाम के जप-कर्म में विशेष रूप से प्रवृत्त हो जाओ। ब्रह्मा से भी वन्दनीय परम प्रिय पर-मात्मा को प्राप्त करने के लिये जप-यज्ञ के द्वारा नियमित रूप से प्रयत्न करो।

"ॐ नमो भगवते वासुदेवाय"

"हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥"

"श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे,
हे नाथ नारायण वासुदेव !"
"गोविन्द गोविन्द हरे मुरारे,
गोविन्द गोविन्द मुकुन्द कृष्ण !
गोविन्द गोविन्द रथाङ्गपाणे,
गोविन्द गोविन्द नमामि नित्यम् ॥"
इत्यादीनां भगवन्नाम्नां प्रेमाऽऽवेशेन निरन्तरं जपं कुरु।

"श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे,
हे नाथ नारायण वासुदेव !"
"गोविन्द गोविन्द हरे मुरारे,
गोविन्द गोविन्द मुकुन्द कृष्ण !
गोविन्द गोविन्द रथाङ्गपाणे,
गोविन्द गोविन्द नमामि नित्यम् ॥"
इत्यादि भगवान के नामों का अत्यन्त प्रेम से निरन्तर जप करो।

"रामनामजपतां कुतो भयं,
सर्वतापशमनैकभेषजम् ।
पश्य तात मम गात्रसन्निधौ,
पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ॥"

इति प्रह्लादवचनमनुस्मृत्य भगवन्नाम-जपे श्रद्धामव्यभिचारिणीं निष्ठाञ्चानुतिष्ठ । अथ च—

"समस्त दुःखों के नाश करने के लिये एक मात्र औषधस्वरूप "राम नाम" जप करने वालों को किससे भय हो सकता है ? हे पिता ! देखिये कि मेरे शरीर के समीप-वर्ती अग्नि भी जल की तरह अभी शीतल हो रही है ।"

प्रह्लाद के उक्त वचन का स्मरण करके भगवान के नाम-जप में श्रद्धा और निश्चल निष्ठा करो । फिर भी—

"अविनयमपनय विष्णो दमय,
मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्।
भूतदयां विस्तारय तारय
संसारसागरतः ॥ १ ॥
दिव्यधुनीमकरन्दे परिमल-
परिभोगसच्चिदानन्दे।
श्रीपतिपदारविन्दे भवभय-

"हे व्यापक भगवन्! मेरे अविनय को दूर कीजिये, मन का दमन कीजिये, विषयरूपी मृग-तृष्णा का शमन कीजिये, प्राणियों पर दया का विस्तार करें, मुझे संसाररूपी समुद्र से उबार दें ॥ १ ॥

"भगवान के जिन चरण-कमलों का पराग स्वर्ग की गंगा है, जिनकी सुगन्धि का विस्तार सत्-चित्-आनन्दरूप है, जो संसार के भय-जन्य दुःखों का उच्छेद करने वाले हैं उन चरण-कमलों

खेदच्छिदे वन्दे ॥ २ ॥
सत्यपि भेदापगमे नाथ !
तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन
समुद्रो न तारङ्गः ॥ ३ ॥
उद्धृतनग नगभिदनुज दनुज-
कुलामित्र ।मित्र-शशिदृष्टे ।

की मैं वन्दना करता हूं ॥ २ ॥

हे नाथ ! हमारे आपके बीच में किसी प्रकार के भेद नहीं रहने पर भी मैं आपका हूं किन्तु आप मेरे हैं यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि समुद्र की तरङ्ग होती है किन्तु तरङ्ग का समुद्र नहीं होता है ॥ ३ ॥

हे गोवर्द्धन पर्वत के उद्धारक ! हे इन्द्र के कनिष्ठ भ्राता ! हे दानव कुल के शत्रु ! परम प्रकाशक सूर्य और चन्द्रमा भी आपका दर्शन

दृष्टे भवति प्रभवति न भवति,
किं भवतिरस्कारः ॥ ४ ॥
मत्स्यादिभिरवतारैरवतार-
वताऽवता सदा वसुधाम् ।
परमेश्वर परिपाल्योभवता,
भवतापभीतोऽहम् ॥ ५ ॥
दामोदर गुणमन्दिर सुन्दर-
वदनारविन्द गोविन्द ।

करते हैं ऐसे ऐश्वर्यशाली आपके दर्शन होने पर क्या संसार का उच्छेद नहीं हो सकता है ?।४।।

हे परमेश्वर ! आप मत्स्य आदि अवतारों के द्वारा अवतीर्ण हो कर सदा पृथिवी का पालन किया है, मैं संसार के तापों से भीत हूं, आप मेरा पालन करें ॥ ५ ॥

हे दामोदर ! हे गुण के भाजन ! हे कमल के समान सुन्दर मुख वाले ! हे गोविन्द ! हे

भवजलधिमथनमन्दर,
परमं दरमपनय त्वं मे ॥ ६ ॥
नारायण करुणामय शरणं,
करवाणि तावकौ चरणौ ।
इति षट्पदी मदीये
वदनसरोजे सदा वसतु ॥ ७ ॥"
"षट्पदी"

संसाररूपी समुद्र के मन्थन करने के लिये मन्द-राचल के समान ! मेरे असह्य ताप को दूर करें ॥ ६ ॥

हे नारायण ! हे करुणामय ! आपके दोनों चरणों को मैं अपनी शरण बनाता हूं, यह स्तोत्र, जो षट्पदी नाम से प्रसिद्ध है, मेरे मुख-कमल में सदा निवास करे । (षट्पदी अर्थात् भ्रमरी का कमल में निवास करना प्रसिद्ध है) ॥ ७ ॥"

"षट्पदी"

"गङ्गातरङ्गरमणीयजटाकलापं,
गौरीनिरन्तरविभूषितवामभागम्।
नारायणप्रियमनङ्गमदापहारं,
वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥१॥
वाचामगोचरमनेकगुणस्वरूपं,
वागीशविष्णुसुरसेवितपादपीठम्।
वामेन विग्रहवरेण कलत्रवन्तं,

"जिनका जटा-जूट श्री गंगाजी की तरङ्गों से शोभायमान है। जिनका वाम भाग पार्वती से सुशोभित है। जो विष्णु भगवान के प्रिय हैं और कामदेव के गर्व को चूर्ण करने वाले हैं, ऐसे काशी-पति विश्वनाथ का भजन करो ॥१॥

जो वाणी के अगोचर हैं। जो असंख्य गुणों की मूर्त्ति हैं। बृहस्पति, विष्णु देवगण से जिनका सिंहासन सेवित है। जिनका वाम भाग नारी-

वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥२॥
भूताधिपं भुजगभूषणभूषिताङ्गं,
व्याघ्राजिनाम्बरधरं जटिलं त्रिनेत्रम्।
पाशांकुशाभयवरप्रदशूलपाणिं,
वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥३॥
शीतांशुशोभितकिरीटविराजमानं,

मय है ऐसे काशी-पति विश्वनाथ का भजन करो ॥ २ ॥

जो भूत-प्रेत गण के राजा हैं। जिनके शरीर में सर्प का भूषण है। जो बाघम्बर और मृगछाला रूपी वस्त्र धारण करने वाले हैं। जो जटाधारी और त्रिनेत्र हैं। जिनके हाथों में फांस, अङ्कुश, अभय, वर और त्रिशूल विराजमान हैं ऐसे काशी-पति विश्वनाथ का भजन करो ॥३॥

जिनका किरीट (ताज) चन्द्रमा से सुशोभित हो कर विराजमान हो रहा है। जिन्होंने

भालेक्षणानलविशोषितपञ्चबाणम्।
नागाधिपारचितभासुरकर्णपूरं,
वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥४॥
पञ्चाननं दुरितमत्तमतङ्गजानां,
नागान्तकं दनुजपुङ्गवपन्नगानाम्।
दावानलं मरणशोकजराटवीनां,
वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥५॥

अपने ललाट-स्थित नेत्र रूपी अग्नि से कामदेव को जला डाला। जिनका चमकीला कर्णपूर (कर्ण-भूषण) सर्प-राज का बना हुआ है, ऐसे काशी-पति विश्वनाथ का भजन करो ॥४॥

पापरूपी मतवाले हाथियों के लिये जो सिंह हैं। भयंकर दानव रूपी सर्पों के लिये जो गरुड़जी हैं। मृत्यु, शोक, वृद्धावस्था रूपी महावन के लिये जो दावानल (वन की आग) हैं, ऐसे काशी-पति विश्वनाथ का भजन करो ॥५॥

तेजोमयं सगुणनिर्गुणमद्वितीय-
मानन्दकन्दमपराजितमप्रमेयम् ।
नागात्मकं सकलनिष्कलमात्मरूपं,
वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥६॥
आशां विहाय परिहृत्य परस्य निन्दां,
पापे रतिञ्च सुनिवार्य मनः समाधौ ।
आदाय हृत्कमलमध्यगतं परेशं,

जो तेजमय हैं। जो सगुण तथा निर्गुण भी हैं। जो एक हैं, आनन्द-कन्द हैं, अजेय और अज्ञेय हैं। जो शेष स्वरूप (शेषनाग भगवान्) हैं। जो सर्वथा उपाधि-रहित हैं ऐसे आत्मस्वरूप काशी-पति विश्वनाथ का भजन करो ॥६॥

आशा का परित्याग कर के दूसरों की निन्दा और पाप की प्रवृत्ति छोड़ कर विषयों से मन को रोक कर उसे समाधि में ला कर हृदयरूपी कमल

वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥७॥
रागादिदोषरहितं स्वजनानुराग,
वैराग्यशान्तिनिलयं गिरिजासहायम् ।
माधुर्यधैर्यसुभगं गरलाभिरामं,
वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम् ॥८॥
वाराणसीपुरपतेः स्तवनं शिवस्य,
व्याख्यातमष्टकमिदं पठते मनुष्यः ।

के मध्य-स्थित काशी-पति विश्वनाथ का भजन करो ॥ ७ ॥

जो राग आदि दोषों से रहित हैं । जो अपने भक्त जन के लिये प्रेम, वैराग्य और शान्ति के आलय हैं । जो गिरिजा-सहित हैं । जो धैर्यरूपी माधुरी से रमणीय हैं । कण्ठ में विष-चिन्ह रहने से जो सुन्दर हैं ऐसे काशी-पति विश्वनाथ का भजन करो ॥ ८ ॥

जो मनुष्य काशी-पति शिवजी के सम्यक् उक्त इस "अष्टक" स्तोत्र का पठन करता है वह

विद्यां श्रियं विपुलसौख्यमनन्तकीर्तिं,
सम्प्राप्य देहविलये लभते च मोक्षम् ॥६॥
व्यासाष्टकमिदं पुण्यं यः पठेच्छिवसन्निधौ।
शिवलोकमवाप्नोति शिवेन सह मोदते ॥१०॥"
इति "विश्वनाथाष्टकम्"
"शिवा शान्ता शीता हरिपदयशोभूतिरतुला,

विद्या, लक्ष्मी, अत्यधिक सुख और अनन्त कीर्त्ति को प्राप्त करके इस शरीर के अन्त होने पर मोक्ष लाभ करता है ॥६॥

जो मनुष्य पुण्य-प्रद व्यास-कथित इस 'अष्टक' का पाठ शिवजी के समीप में करता है वह शिवलोक को प्राप्त करता है और शिवजी के साथ आनन्दित रहता है ॥१०॥"

इति "विश्वनाथाष्टक"

"जो गंगाजी शीतल, शान्त और कल्याण-स्वरूप हैं। जो विष्णु भगवान के चरणों की विभूति हैं। जो अतुलनीय, स्वप्रकाशरूप हैं। जो

स्वयं ज्योतिर्लक्ष्मीर्निरवधिसुखस्वादुमधुरां ।
सुधाधारासारा त्रिगुणपरिवारातिविमला,
चिदानन्दाकारा मम वसतु चित्ते त्रिपथगा।१।
निराकारा सृष्टेरभवदियमीशात्मनि पुरा,
जगद् दृष्ट्वा देवासुरनरमुखभ्रान्तिनिविडम्।
निमग्नं दुःखाब्धौ दुरितरचितं वीक्ष्य कृपया,

लक्ष्मी हैं। जिनका अनन्त सुख का स्वाद मधुर है। जिनका प्रवाह का पतन अमृतमय है। सत्त्व-रज-तम ये तीनों गुण जिनके परिवार हैं। जो अत्यन्त निर्मल हैं और जो चैतन्य आनन्द-स्वरूप हैं। वह गंगाजी मेरे मन में निवास करें अर्थात् मैं उनका ध्यान करता रहूं ॥ १ ॥

जो गंगाजी सृष्टि के पहले निराकार रूप से परमात्मा में लीन थी। जो देव, असुर, मनुष्य प्रभृति को भ्रम-लीन तथा पाप-रचित दुःख रूपी समुद्र में मग्न देख कर कृपा करके उनके उद्धार

समुद्धर्तुं नीराकृतिमिहाविधायाविरभवत् ॥२॥
स्वयंसिद्धा संवित्प्रकृतिपुरुषेशाकृतिरजे
त्वमात्मा भूतानां परिमिततनूनां जनिभृताम्।
निजां शक्तिं चित्रां स्थिरचरजगद्धेतुमुचिताम्
प्रविश्येदं सर्वं नियमयसि भागीरथि सति!॥३॥
विधिर्विष्णुः शम्भुस्त्वमसि पुरुषत्वेन सकला,

करने के लिये अपना जलमय स्वरूप निर्माण कर के इस पृथ्वी पर प्रगट हुई ॥२॥

हे जन्म-रहिते ! हे सति ! हे भागीरथि ! आप स्वयं सिद्ध चैतन्य रूप हैं। आपकी मूर्त्ति प्रकृति-पुरुष तथा ईश्वर की है। जन्म लेने वाले मध्यम परिमाण वाले जीवों की आप आत्मा हैं। आप चर-अचर जगत के अनुकूल हेतु भूत अपनी विचित्र शक्ति में प्रवेश कर के समस्त विश्व का नियन्त्रण करती हैं ॥३॥

हे जह्नु मुनि की पुत्रि ! आप पुरुष-रूप में

रमोमागीर्मुख्या त्वमसि ललना जह्नुतनये!
निराकारागाधा भगवति सदा त्वं विहरसि,
क्षितौ नीराकारा हरासि जनतापान्स्वकृपया ।४।
त्रिधा भूत्वा गङ्गे दिवि भुवि च पातालभुवने,
सुरान्नॄन्नागादीन्निजजलगतान् पावयसि यान्।
विशुद्धास्ते भूत्वा सुरनरभुजङ्गप्रभृतयः ।

ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं तथा स्त्री-रूप में आप कलाओं से पूर्ण लक्ष्मी, पार्वती और सरस्वती हैं। हे भगवति ! आप आकार से रहित, अपरिमित हैं। आप पृथिवी पर जल रूप हो कर सदा विहार करती हैं और अपनी कृपा से मनुष्य के तापों का हरण करती हैं ॥४॥

हे गंगे ! आप तीन रूप धारण कर के स्वर्ग में देव गण को पृथिवी पर मनुष्यों को और पाताल में नाग (सर्प) गण को अपने जल से स्पृष्ट कर के पवित्र करते हैं। वे सौभाग्यशाली देव, नर,

सुखं ब्रह्माखण्डं निरवधिपदं यान्ति सुभगाः ।५।
आदावादिपितामहस्य नियम-
व्यापारपात्रे जलं,
पश्चात्पन्नगशायिनो भगवतः-
पादोदकं पावनम् ।
भूयः शम्भुजटाविभूषणमणि—
र्जन्होर्महर्षेरियं,
कन्या कल्मषनाशिनी भगवती-

सर्प प्रभृति पाप-रहित हो कर अविच्छिन्न और शाश्वत ब्रह्मानन्द पद को प्राप्त करते हैं ॥५॥

जो गंगाजी पहले आदि ब्रह्मा के कमण्डलु के जल रूप थी, इसके पश्चात् शेष-शायी भगवान के पवित्र चरण-उदक हुई। पुनः जह्नु नाम की मुनि की पुत्री हो कर शिव की जटा के भूषण-मणि हुई, वही भगीरथ के द्वारा तपोबल से लायी गयी यह भगवती (भागीरथी गंगा) समस्त

भागीरथी भूतले ॥ ६ ॥

गाङ्गं वारि मनोहारि मुरारिचरणच्युतम्।
त्रिपुरारिशिरश्चारि पापहारि पुनातु माम्॥७॥
पापापहारि दुरितारि तरङ्गधारि,
शैलप्रचारि गिरिराजगुहाविदारि।
झङ्कारकारि हरिपादरजोऽपहारि,
गाङ्गं पुनातु सततं शुभकारि वारि।८।

पापों का हरण करने वाली हुई ॥६॥

विष्णु के चरणों से निःसृत तथा शिवजी के मस्तक पर विहरण-शील जो पाप-नाशक, मनोहर गंगा-जल है वह मुझे पवित्र करे ॥७॥

पापों का अपहरण करने वाला, दुरित-नाशक, तरङ्ग-युक्त, पर्वत पर संचरण करने वाला, हिमालय की गुफा को विदीर्ण करने वाला, झंकार शब्द से युक्त, विष्णु के चरणों की धूलि को हटाने वाला और कल्याण करने वाला गंगा-जल सदा पवित्र करे ॥ ८ ॥

गङ्गे मातर्नमस्तुभ्यं गङ्गे मातर्नमोनमः ।
पाविनी पतितानां त्वं पावनानांच पाविनी ।९।
नमस्तुभ्यं महाभागे भागीरथरथानुगे !
नमस्तुभ्यं जगन्नाथे गङ्गे त्रिपथगामिनी ।१०।"
"गङ्गास्तोत्रम्"
एवमाद्यगणितगुणमाहात्म्यस्य भगवतः

हे गंगे ! हे मातः ! आपको बार-बार नमस्कार है। आप पापियों को भी पवित्र करती हैं और धर्मात्माओं को भी पवित्र करती हैं ॥९॥

हे उत्कृष्ट ऐश्वर्यशालिनि ! हे भगीरथ के रथ के पीछे चलने वाली ! आपको नमस्कार है। हे जगत के स्वामिनि ! स्वर्ग-मर्त्य-पाताल इन तीन मार्गों पर चलने वाली हे गंगे ! आपको नमस्कार है ॥ १० ॥" इति

"गंगास्तोत्र"

इत्यादि असंख्य गुणों की महिमा से युक्त

स्त्रोत्रमपि यथारुचि नितरां पठ प्रेमगद्गदेन कण्ठेन।

एवं विधाभिर्भगवद्भजनक्रियाभिः स्वनुष्ठिताभिः संसारपारं गन्तुमिच्छ। संसारक्लेशान् संसारव्यापारांश्चातितरामातिगच्छ। स्वाधिकारानुरूपगुरूपादिष्टभगवत्स्वरूपाचिन्तनेन संसाराचिन्तनवाधनं कुरु। भगवद्गुणा-

भगवान के स्तोत्र का भी प्रेम-गद्गद कण्ठ से सुचारु रूप से यथारुचि पाठ करो। अच्छी तरह किये गये इस प्रकार के भगवद्भजनों से संसार के पार जाने की इच्छा करो। सांसारिक क्लेशों और सांसारिक व्यापारों से विलकुल बाहर हो जाओ। अपने अधिकार के अनुसार गुरु से उपदिष्ट भगवत्-स्वरूप के चिन्तन के द्वारा जगत्-चिन्तन को दूर भगाओ। भगवान के गुणों के कीर्तन के द्वारा

नुकीर्तनतः संसारगुणानुकीर्तनरोधनं कुरु। भगवत्कर्मसम्पादनेनेतरकर्मविसर्जनं कुरु। भगवदास्तित्वविचारपाटवाज्जागतिकाऽस्तित्व-बुद्धेरवसादनं कुरु। भगवदनुस्मरणनैपुण्ये-नेतराविस्मरणं कुरु। भगवन्नामोच्चारणेनापर-नामतिरस्करणं कुरु। परमप्रेमास्पदस्य श्रीभ-गवतः पवित्रप्रेममुग्धतया कलुषमय परिच्छि-

---

जगत के गुणानुकीर्तन को रोको। भगवत्-कर्म-सम्पादन के द्वारा अन्य कर्मों का विसर्जन करो। भगवान के अस्तित्व-विचार की पटुता के द्वारा जगत के अस्तित्व-ज्ञान का अन्त कर डालो। भगवान के अनुचिन्तन के चातुर्य से अन्य वस्तुओं को भूल जाओ। भगवान के नामों के उच्चारण के द्वारा अन्य नामों का तिरस्कार करो। परम प्रेम के भाजन श्रीभगवान के पवित्र प्रेम में मुग्ध रह कर पापमय, परिमित, परिवर्तन-शील और दुःख

न्नपरिणामिदुःखहेतुव्यक्तिगतप्रेम्णो बाधनं कुरु। भगवद्रूपभावनेन जाग्रज्जागतरूपापाकरणं कुरु। एवञ्च भगवद्भक्तिसाधनेन निरन्तरमनुष्ठीयमानेन—

"अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा,

के हेतुभूत व्यक्तिगत प्रेम को बाधित करो। भगवान की भावना के द्वारा जाज्वल्यमान जगत के स्वरूप को तिरोहित (गायब) करो। फिर इस प्रकार भगवान की भक्तिरूपी साधन के द्वारा निरन्तर अनुष्ठान करने से—

"जिन्हें पंख नहीं जमे हैं, पक्षी के वे बच्चे जैसे अपनी माता को देखने के लिये उत्कंठित रहते हैं। भूखे बछड़े जैसे दुग्ध के लिये लालायित रहते हैं। विदेश-स्थित पति को देखने के लिये

मनोऽरविन्दाच्च दिदृक्षते त्वाम् ॥"

"भागवतम्"

इत्युक्तरीत्या प्रेमावेशजानितयाऽतिमात्र-व्याकुलताजनिकया दृढदर्शनोत्कण्ठया च भगवतः स्वरूपं त्वमचिरेण साक्षात्करिष्यासि। भगवान् स्वयमेव स्वकीयेन मञ्जुलरूपेण तवाक्षिपथमवतरिष्यति। तथा च तव भक्तिः

जैसे पत्नी उदास रहती है। हे कमल-नेत्र! वैसे ही मेरा मन आपको देखने की अभिलाषा कर रहा है॥"

"भागवत"

इस प्रकार कथित रीति से प्रेम के आवेश से उत्पन्न, अत्यन्त व्याकुलता को उत्पन्न करने वाली जो दृढ़ दर्शन की उत्कण्ठा है उसके द्वारा तुम शीघ्र ही भगवान के स्वरूप का साक्षात्कार करोगे। स्वयं ही भगवान् अपने मनोहर मूर्ति से तुम्हारे दृष्टि-मार्ग पर अवतीर्ण हो जांयगे अर्थात्

सुतरां सफलीभविष्यति।

"न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं,
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा,
वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः॥"
"भागवतम्"

तुम्हें दर्शन दे देंगे। तब भगवत्-सम्बन्धी तुम्हारी भक्ति सर्वथा सफल हो जायगी।

"जिस भगवान के चरण की धूलि को प्राप्त करने वाले भक्त ब्रह्म-लोक के राज्य को नहीं चाहते हैं, इन्द्र के राज्य को नहीं चाहते हैं। समस्त पृथिवी के राज्य नहीं चाहते, रस के आधिपत्य को नहीं चाहते हैं। योग की सिद्धियों को नहीं चाहते हैं और मोक्ष को भी नहीं चाहते हैं॥"
"भागवत"

इत्युक्तां प्रेमानन्दानुभवस्य परां काष्ठा-
ञ्चाधिगमिष्यसि ।

"क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचित्
हसन्ति नन्दान्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं,
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥"
"भागवतम्"

इस प्रकार उक्त प्रेमानन्द के अनुभव की पराकाष्ठा (सीमा) को तुम प्राप्त करोगे ।

"वे लोकोत्तर भक्त अच्युत भगवान का चिन्तन कर के कहीं रोते हैं, कहीं हंसते हैं, कहीं प्रसन्न होते हैं, कहीं बोलते हैं, कहीं नाचते हैं, कहीं गाते हैं, कहीं ध्यान करते हैं। इस प्रकार की भक्ति के द्वारा वे अविनाशी परमात्मा को प्राप्त कर के समस्त व्यापार से निवृत्त और शान्त हो जाते हैं ॥" "भागवत"

इत्येवं भगवत्प्रेमोन्मत्तदशाञ्च त्वमाशु सम्प्राप्स्यासि। तथा च परमात्मगातिञ्च त्वं गमिष्यसि। कामेन द्वेषेण च बहवः परमात्मपदं गताः। तर्हि भक्त्या त्वं परमपदमवश्यं व्राजिष्यसीति किमु वक्तव्यम् ।

तथाचोक्तम् :—

"कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः

इस प्रकार भगवान में प्रेम-मग्न होने की अवस्था को तुम शीघ्र प्राप्त करोगे और परमात्मभाव को भी तुम प्राप्त करोगे। जब कि काम और द्वेष भाव से भी बहुत से लोग परमात्मा के पद को प्राप्त कर चुके हैं तब तुम भक्ति से परमपद प्राप्त करोगे इसमें कहना ही क्या है ? वैसा कहा भी गया है—

"भक्ति की तरह काम से, द्वेष से, भय से, स्नेह से परमात्मा में मन को लगा कर मन के पाप को दूर कर के बहुत लोग परमात्मभाव को

आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥
गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूयंभक्त्या वयं विभोः"
इति "भागवतम्"

एतादृशं भक्तिभावस्य परमोत्कर्षमुपगतो मर्त्यो धन्यो मान्यः पूज्यश्च मर्त्या-

---

प्राप्त कर चुके हैं अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप को पा लिये हैं ॥"

"गोपियां भगवान में काम कर के, कंस भय से, शिशुपाल प्रभृति भूपगण द्वेष से, यादव गण संबन्ध से, आप लोग (पाण्डव) स्नेह से, हम लोग परमात्मा की भक्ति से परमात्मा को प्राप्त कर चुके हैं ॥" "भागवत"

भक्ति भाव की इस प्रकार की चरम अवस्था को प्राप्त मनुष्य धन्य है । मनुष्य और देवता सब का वह मान्य और पूज्य होता है यह तुम जानो।

मर्त्यैरिति विद्धि । यः कोऽपि वा हरिभक्तो हरिवत् सुष्ठु पूजनीयो भवति । वयोवर्णाश्रमादयस्तु तादृशस्य पूजनं प्रतिबद्धुं न पर्याप्ता भवन्ति । अहो ! भक्तिमाहात्म्यम् ! हरिभक्तिस्त्वधममुत्तमयति । चाण्डालञ्च ब्राह्मणयति । तदुक्तम् :—

"अन्त्यजो वाधमोवाऽपि मूर्खोवा पतितोऽपि वा ।

जो कोई भी हो भगवान का भक्त भगवान की तरह सम्यक् पूजनीय है । बाल्य-यौवन आदि वय, ब्राह्मण आदि वर्ण, ब्रह्मचर्य आदि आश्रम भी वैसे महान् पुरुष के सत्कार को नहीं हटा सकते हैं । भक्ति की आश्चर्य महिमा है । भगवान की भक्ति तो नीच को उच्च बना देती है, चाण्डाल को ब्राह्मण की तरह पूज्य बना देती है । वैसा कहा गया है—

"हे कृष्ण ! चाण्डाल हो अथवा नीच हो या

शिवं प्रपन्नश्चेत् कृष्ण पूज्यस्सर्वसुरासुरैः ॥"

"इति शिवपुराणम्"

"चाण्डालोऽपिमुनिश्रेष्ठ विष्णुभक्तोद्विजाधिकः ।
विष्णुभक्तिविहीनश्च द्विजोऽपिश्वपचाधमः॥"

"इति च नारदपुराणम्"

एवं भक्तिप्रकर्षेण परमात्मानं परमात्म-

मूर्ख हो वा पतित भी हो, यदि वह शिवजी की शरण में प्राप्त है तो वह सुर-असुर सबसे पूज्य होता है।" इति "शिवपुराण"

"हे मुनि-श्रेष्ठ ! यदि चाण्डाल भी विष्णु-भक्त हो तो वह द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) से अच्छा है और द्विज भी विष्णुभक्ति-रहित हो तो वह चाण्डाल से भी अधम (नीच) है॥"

इति च "नारदपुराण"

इस तरह भक्ति के आधिक्य से परमात्म-

त्वेनोपास्य, अथ च स्वात्मत्वेनापरोक्षीकृत्य कृत्यकृत्यो भवति पुरुषः।

तथा भक्तिप्राचुर्यान्निरस्तसमस्तमलं निर्विक्षेपं नितरामतिमात्रवैराग्यपूर्णं सुरसरिदुदकवदत्यन्तविशुद्धं परमात्मतत्त्वज्ञाननिष्ठायोग्यं ततश्च तन्निष्ठाद्वारा परमपुमर्थप्रापकञ्च सम्पद्यते तवाऽपि तत्त्वम्।

भाव से परमात्मा की उपासना कर के तब अपने आत्मरूप से उनका साक्षात्कार कर के मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

वैसे भक्ति के प्राचुर्य से पाप-रहित, विक्षेप-रहित, सुचारु रूप से अत्यन्त वैराग्य-पूर्ण, गंगा-जल की तरह अत्यन्त पवित्र और परमात्मा के ज्ञान-निष्ठा योग्य और उस निष्ठा के द्वारा परम पुरुपार्थ (मोक्ष) को प्राप्त कराने वाला तत्त्व (ज्ञान) तुम्हें भी प्राप्त हो सकता है।

उक्तं हि :—

"वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम् ॥"

"इति भागवतम्"

"अतोमद्भक्तियुक्तस्य ज्ञानं विज्ञानमेव च ।
वैराग्यञ्च भवेच्छीघ्रं ततोमुक्तिमवाप्नुयात् ॥"

"इति अ० रा०"

कहा गया है—

"वासुदेव भगवान में किया गया भक्ति-योग जिस वैराग्य और ज्ञान को शीघ्र उत्पन्न करता है वह बिना किसी हेतु का ही उत्पन्न होता है ॥"

"भागवत"

"इस लिये जो मेरे भक्ति से युक्त हैं उन्हें ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य शीघ्र उत्पन्न होते हैं तब वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥"

इति "अ० रा०"

अतो यदि श्रेयोऽर्थी चेत्, तर्हि त्वं भगवति भक्तवत्सले निरातिशयां भक्तिं कुरु।

"रक्षोमण्डलखण्डपण्डितमहा-
वेतण्डशुण्डालस-
द्दोर्दण्डं निखिलाण्डपिण्डनकृतौ,
शौण्डं तथा मुण्डिभिः।
ध्येयं दण्डकमण्डलूपकरणै-
श्चण्डांशुवंशोद्भवं,

इस लिये यदि तुम कल्याण चाहने वाले हो तो तुम भक्त-प्रेमी भगवान में असीम भक्ति करो।

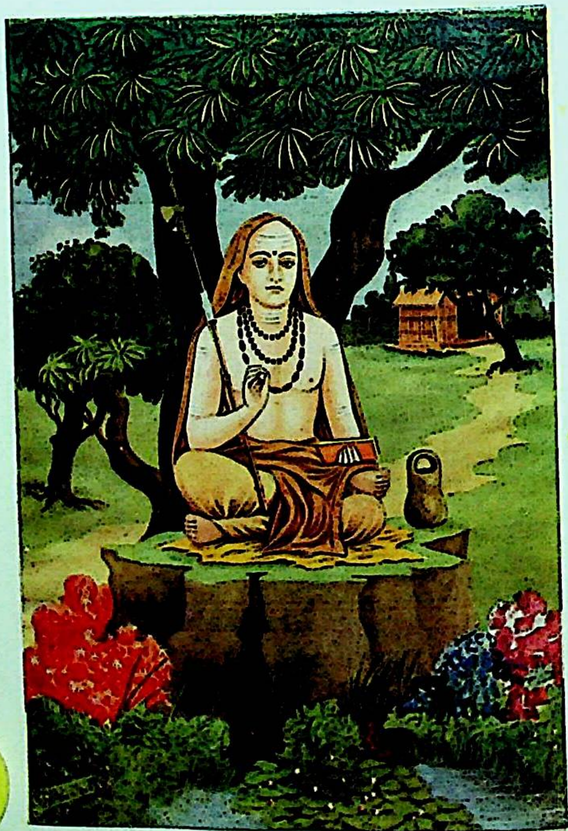
"जिनके बाहु-दण्ड (बाहें) राक्षस गण के विनाश करने में दक्ष, हस्ती की विशाल सूंड की तरह विराजमान हैं। जो समस्त विश्व-निर्माण में चतुर और संन्यासियों के ध्येय हैं, जो दण्ड-कमण्डलु आदि उपकरणों से युक्त और सूर्य-

गण्डे कुण्डलमंडितं रघुपतिं
कोदण्डपाणिं भजे ॥"

इति भक्तिप्रकरणं समाप्तम् ॥

वंश में उत्पन्न हैं। जिनका कपोल कुण्डलों से सुशोभित है और जिनके हाथ में धनुष है ऐसे रामचन्द्र का मैं भजन करता हूं ॥"

॥ इति भक्ति प्रकरण समाप्त ॥



भगवान् श्रीशङ्कराचार्य

THE GITA PRESS, GORAKHPUR.

श्री गणेशाय नमः

अथ ज्ञानप्रकरणम्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति,
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।"

"तरति शोकमात्मवित्"

"उसी ब्रह्म को वास्तव रूप से जान कर के मनुष्य मृत्यु के परे स्थान को अर्थात् शाश्वत पद को प्राप्त करता है। मोक्ष के लिये दूसरा मार्ग नहीं है।"

"आत्म-ज्ञानी शोक से रहित हो जाता है।"

"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"
"ज्ञानवान्मां प्रपद्यते" "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"

इत्यादिश्रुतिस्मृतिवचनेभ्यो ब्रह्मात्मैक्य-विषयकं ज्ञानमेव चतुर्थपुरुषार्थस्य मोक्षस्य साक्षात्साधनमिति निश्चितोऽर्थः। तच्च ज्ञानं चित्तस्य परमां विशुद्धिमेकाग्रताञ्च विना न

"बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं मिलती है।"

"ज्ञानी पुरुष मुझ परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।" "ज्ञानी मेरा स्वरूप ही है यह भगवान का मत है।"

इत्यादि श्रुति-स्मृति वचनों से यह निश्चित है कि जीव और ब्रह्म का अभेद-साक्षात्कार अर्थात् दोनों की एकता का ज्ञान ही, मोक्ष रूप चतुर्थ पुरुषार्थका साक्षात् साधन है। वह ज्ञान भी बिना चित्त की विशुद्धि और एकाग्रता के नहीं हो

समुत्पद्यत इति कर्मणोपासनया च ते सम्पादनीये । निष्कामकर्मभिर्दानव्रततपोयज्ञादिभिर्वैराग्यसहिता विशुद्धिर्भवति । उपासनरूपया भक्त्या चैकाग्र्यं सम्भवति । विरागभावश्च पूर्वाधिकमत्यन्तं वर्द्धते । ततश्च ज्ञानाभ्यासाधिकारः प्रवर्तते । ज्ञानाभ्यासेन च ज्ञानमुत्प-

---

सकता है इस लिये कर्म और उपासना के द्वारा चित्त की विशुद्धि और एकाग्रता हासिल करनी चाहिये । निष्काम भाव से दान, व्रत, तप और यज्ञ आदि कर्मों के करने से और विषयों से वैराग्य करने से चित्तकी विशुद्धि होती है । उपासना रूप भक्ति से चित्त की एकाग्रता होती है । पहले की अपेक्षा वैराग्य भी अत्यधिक प्रवृद्ध होता है और तब ब्रह्म-ज्ञान के अभ्यास करने की योग्यता होती है और ब्रह्म-ज्ञान के अभ्यास (बारम्बार भावना) करने से जीव और ब्रह्म

द्यते, ज्ञानेन च मोक्ष इत्यौपनिषदी रीतिः। तथा च रे चित्त! ज्ञानविचारे प्रवर्तस्व। ज्ञानविचारेण ज्ञानि भव। ज्ञानसम्पादनेन स्वजन्म सफलीकुरु। त्वं विवेकवदसि, त्वं वैराग्यवदसि, त्वं शमादिगुणवदसि, त्वं मुमुक्षु असि,

अर्थात् आत्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और उस ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है यह उपनिषद् की प्रक्रिया है। अरे चित्त! इस लिये तुम ज्ञान के विचार करने में प्रवृत्त हो जाओ। ज्ञान-विचार के द्वारा तुम ज्ञानी बनो। ज्ञान का उपार्जन कर के अपने जन्म को सफल करो। तुझे विवेक करने की शक्ति है। तुझे वैराग्य धारण करने की शक्ति है। तुझे शम, दम आदि गुणों के धारण करने की शक्ति है। तुझे मोक्ष की अभिलाषा है। इस प्रकार सम्यक् किये कर्म और

एवं त्वं सम्यगनुष्ठितकर्मोपासनाभिः साधन-चतुष्टयसम्पन्नमसि ।

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः ।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः ॥१॥
तद्वैराग्यं जिहासा या दर्शनश्रवणादिभिः ।
देहादिब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि ॥२॥

उपासना (भक्ति) के द्वारा तुम साधन चतुष्टय-सम्पन्न हो अर्थात् विवेक, वैराग्य, शम-दमादि-षट् सम्पत्ति, मुमुक्षुता ये जो मोक्ष के चार साधन कहे गये हैं वे सब साधन तुझे विद्यमान हैं । (साधन चतुष्टय का लक्षण कहते हैं—)

"ब्रह्म सत्य है संसार मिथ्या है यह जो निश्चय है वही 'नित्यानित्य वस्तु-विवेक' कहा गया है ॥ १ ॥

दर्शन, श्रवण आदि के द्वारा देह से ले कर ब्रह्मलोक पर्यन्त जो अनित्य भोग पदार्थ हैं उनके त्यागने की जो इच्छा है वही 'वैराग्य' है ॥२॥

विरज्य विषयव्राताद्दोषदृष्ट्या मुहुर्मुहुः ।
स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसः शम उच्यते ।३।
विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके ।
उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः॥४।
बाह्यानालम्बनं वृत्तेरेवोपरतिरुत्तमा ।
सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम् ॥ ५ ॥
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते ।

बार-बार दोष-दर्शन से विषय-पुञ्ज से विरक्त हो कर चित्त की जो अपने लक्ष्य में अवस्थिति है वही 'शम' है ॥ ३ ॥

समस्त विषयों से पराङ्मुख हो कर ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय दोनों इन्द्रियों की अपने-अपने गोलक में ही जो अन्तर्मुख अवस्थिति है वही 'दम' है ॥४॥

बाह्य विषयों में चित्त-वृत्ति का संचार न होना ही उत्तम 'उपरति' है । चिन्ता और खेद से रहित हो कर बिना कुछ प्रतीकार किये समस्त दुःखों का सहन करना 'तितिक्षा' है ॥ ५ ॥

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यवधारणम् ।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते॥६
सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वदा ।
तत्समाधानमित्युक्तं नतु चित्तस्य लालनम् ॥७
अहङ्कारादिदेहान्तान् बन्धानज्ञानकल्पितान् ।

शास्त्र और गुरु के वचन का सत्य रूप से जो निश्चय करना है, सत्पुरुषों के द्वारा वही 'श्रद्धा' कही गयी है जिससे असल वस्तु प्राप्त की जाती है ॥ ६ ॥

सदा उपाधि-शून्य ब्रह्म में जो बुद्धि को सदा स्थापित करना है वही 'समाधान' कहा गया है । चित्त का विषयों में विचलित भाव नहीं होना चाहिये ॥ ७ ॥

अहंकार से ले कर देह-पर्यन्त जो बन्ध हैं, जो अज्ञान से कल्पित हैं, अपने स्वरूप के ज्ञान

स्वस्वरूपाववोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता।८'

"विवेकचूडामणिः"

इत्येवं भगवत्पादैर्व्याख्यातेन साधनचतुष्टयेनालंकृतमसि। नालंकृतश्चेद्ब्रह्मविचारे त्वं नाधिकारवदसि।

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"

से उन बन्धों से मुक्त होने की जो इच्छा है वही 'मुमुक्षुता' है ॥८॥ "विवेकचूड़ामणि"

इस प्रकार पूज्य श्री शंकराचार्य के द्वारा व्याख्यान किये गये साधन-चतुष्टय से तुम युक्त हो। यदि उक्त साधन-चतुष्टय से तुम युक्त नहीं हो तो तुम ब्रह्म-विचार करने का अधिकारी नहीं हो सकते हो।

"मोक्ष प्राप्त करने के लिये साधन-चतुष्टय प्राप्त होने के पश्चात् ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिये।"

इति च व्यासमूत्रं साधनचतुष्टयसम्प-त्तेरनन्तरमेव ब्रह्मविचारयोग्यतामादिशति। त्वं तु कृतकर्मोपास्ति भक्तियुक्तं साधनसम्पूर्णमासि। अतस्त्वं ब्रह्मविचारसमर्थमासि।

रे चेतः! ब्रह्मविचारं कुरु। चिदचिद्विवेचनं कुरु। कल्याणमयं चैतन्यघनं निजरूपं

यह व्यासजी का सूत्र भी साधन-चतुष्टय की प्राप्ति के बाद ही ब्रह्म-विचार करने की योग्यता का उपदेश करता है। तुम तो कर्म, उपासना कर चुके हो, भक्ति-युक्त हो, समस्त साधन-सम्पन्न हो इस लिये ब्रह्म-विचार करने में तुम समर्थ हो।

अरे चित्त! तुम ब्रह्म-विचार करो। चैतन्य और जड़ का विवेचन करो। कल्याणमय, चैतन्य-मय अपने स्वरूप का निश्चय करो। वैसा निश्चय

निश्चिनु। तथा च सच्चिदानन्दस्वरूपं भव। द्वन्द्वमोहं त्यज। विश्रान्तिं भज। विचारे सति, आत्मनोऽद्वितीयत्वे निश्चिते सति, त्याज्यमत्याज्यञ्च किमस्ति ! इदं सर्वं दृश्यात्मकं जगत्तत्त्वतस्त्वत्तो भिन्नं नैवास्ति।

"मनोमात्रमिदं द्वैतं यथा मरुमरीचिका।"

कर के तुम सच्चिदानन्द स्वरूप बन जाओ। द्वन्द्व के मोह को छोड़ो। विश्राम का सेवन करो। विचार होने पर, अद्वितीय आत्मा के निश्चय होने पर क्या त्याज्य और क्या अत्याज्य रह जाता है अर्थात् हेय-उपादेय यह द्वन्द्व भाव नहीं रह जाता है। यह समस्त दृश्य संसार वास्तव में तुम से अलग नहीं है।

"यह द्वैत भाव मानसिक कल्पनामात्र है जैसे मरुस्थली-स्थित सूर्य की किरण में जल की भ्रान्ति होती है, वास्तव में वह जल सूर्य-किरण

इति गृहाण। अतो द्वैतनिमित्तकं भयं मा कार्षीः।

"द्वितीयाद्वै भयं भवति।"

इति श्रुतिर्वदति। द्वितीयं वस्त्वेव नास्ति तथा च तव कुतो भयप्रसङ्गः।

रे मुमुक्षु मनः! त्वं भूमानन्दं वेदान्त-

से अतिरिक्त कुछ वस्तु नहीं है किन्तु अज्ञान-दशा में जल का भान होता है।"

इस विचार को ग्रहण करो इस लिये तुम द्वैत-निबन्धन भय मत करो।

"दूसरे से ही भय होता है"

यह श्रुति कहती है। और दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है तब तुम को किस से भय की आशंका हो सकती है।

अरे मुमुक्षु मन! तुम सर्वत्र व्यापक आनन्द

वेद्यमद्वैतमात्मानं साक्षात्कुरु। धनपुत्रदेहादिष्वात्मात्मीयत्वबुद्धिमुत्सृज । भेदनिबन्धनं सुखदुःखादिकं मूलतस्त्यज । अहं ममेति देहदेहीयेष्वभिमानं विहाय निरुपाधिकनित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वतत्त्वं भव । तथा च निरुपाधिकपदनिष्ठया कृत्यमकृत्यं धर्ममधर्मञ्चातिगच्छ।

रूप, वेदान्त शास्त्र के द्वारा जानने योग्य अद्वितीय आत्मा का साक्षात्कार करो। धन, पुत्र, देह प्रभृति में आत्मीयभाव को हटाओ। भेद-निमित्तक सुख-दुःख आदि का मूलतः परित्याग करो। मैं, मेरा, इस प्रकार देह और देह-संबन्धी पदार्थों में अभिमान को छोड़ कर उपाधि-रहित नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, तत्त्व-सम्पन्न बनो। वैसा कर के निर्गुण पद में निष्ठा कर के कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म से भी परे हो जाओ।

विधिनिषेधकिङ्करतामत्यंहि। यावद्धर्माधर्मपराधीनता तावत्संसारिणः संसारित्वं न नश्यति। ततो देवपशुत्वं दूरतः परित्यज्य देवपूज्यं भव। आत्मानमप्रमेयमपरिच्छिन्नं सर्वसंसारस्पर्शशून्यं सम्यग्ज्ञात्वा निर्वृत्तं भव।

"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।"

"मुण्डकोपनिषत्"

विधि-निषेध की परतन्त्रता को छोड़ो। जब तक धर्म-अधर्म की पराधीनता है तब तक संसारी पुरुष का संसार विनष्ट नहीं होता है। अतः देवता की बलि के लिये पशुभाव का दूर से परित्याग कर के देव-पूज्य बनो। सम्यक् रूप से आत्मा को ज्ञान के अगोचर, व्यापक, समस्त संसार के स्पर्श से रहित जान कर सुखी हो जाओ।

"ब्रह्म को जानने वाला साक्षात् ब्रह्म हो जाता है।" "मुण्डकोपनिषत्"

इति श्रुत्युक्तप्रकारेण ब्रह्मविद्यया स्वयं ब्रह्मी भव। अथ ब्रह्मप्राप्त्या प्राप्तप्राप्तव्यः कृतकृत्यो धन्यो मान्यो जीवन्मुक्तश्च विराजस्व। नित्यनिरतिशयानन्दप्राप्त्या नित्य-निरंकुशतृप्तिमान् भव।

"धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि।

इस तरह श्रुति में कथित रीति से ब्रह्म-विद्या के द्वारा तुम स्वयं ब्रह्म-सम्पन्न बनो। ब्रह्म की प्राप्ति करने के बाद जो कुछ प्राप्त करना था वह प्राप्त हो गया अतः कृतकृत्य, धन्यवादार्ह, मान्य और जीवन्मुक्त हो कर विराजमान रहो। नित्य असीम आनन्द की प्राप्ति से नित्य उपद्रव-रहित तृप्तिमान् हो जाओ।

" मैं बहुत बड़ा धन्य हूं क्योंकि अपनी नित्य आत्मा को साक्षात् अनुभव करता हूं। मैं बड़ा

धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित् ।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम् ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।

ही धन्य हूं कि मुझे स्पष्टरूप से ब्रह्मानन्द भासित हो रहा है ।

मैं बड़ा धन्य हूं कि आज सांसारिक दुःख को नहीं देखता हूं । मैं बड़ा ही धन्य हूं कि मेरा अज्ञान कहीं भाग कर चला गया ।

मैं बड़ा ही धन्य हूं कि मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं रह गया है । मैं बड़ा धन्य हूं कि जो कुछ प्राप्त करना था उसे मैंने आज प्राप्त कर लिया ।

मैं बड़ा धन्य हूं, मेरी तृप्ति की उपमा लोक

धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनःपुनर्धन्यः ॥"

"पञ्चदशी"

इत्युच्चैस्तरामनारतमानन्दोद्गारं कुरु । त्रिगुणात्मकमिमं संसारमतीत्य निस्त्रैगुण्ये पथि स्वच्छन्दं विचर ।

"अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति ।"

"वृहदारण्यक०"

में क्या हो सकती है। मैं बड़ा ही धन्य हूं, मैं बार-बार धन्य हूं ॥" "पञ्चदशी"

इस प्रकार प्रचुर रूप से सदा आनन्द का उद्गार करो। इस त्रिगुणात्मक संसार का अतिक्रमण कर के निस्त्रैगुण्य मार्ग पर स्वच्छन्द-पूर्वक विचरण करो।

"मैं मनु हुआ और मैं सूर्य हुआ" इति।

"वृहदारण्यक०"

"अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् ,
अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः ॥"
"तैत्तिरीय०"

इत्यादिश्रुतिनिगदितं सर्वात्मभावमत्रैवाप्नुहि ।

अपि च लोकातीतं स्थानमिच्छँस्त्वं लोकविलक्षणो भव । आत्मनिष्ठ आत्माराम आत्मतृप्त आत्मसन्तुष्टश्च भूत्वा सकलां पृथ्वीं पुनीहि ।

"मैं संसार रूप अन्न हूं, और संसार रूप अन्न का खाने वाला भी मैं हूं ।" "तैत्तिरीय"

इत्यादि श्रुतियों से कथित सर्वात्म भाव को तुम इसी लोक में प्राप्त करो । लोक के बाहर स्थान की इच्छा करते हुए तुम लोक से विलक्षण बनो । तुम आत्म-निष्ठ, आत्माराम, आत्म-तृप्त और आत्म-संतुष्ट हो कर सारी पृथिवी को पवित्र करो ।

"कुलं पवित्रं जननी कृतार्था,
विश्वम्भरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन्,
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥"

इत्येतां देवदुर्लभां महनीयां दशां प्राप्नुहि। ब्रह्मनिष्ठया ब्रह्मीभूतमत एवानन्दमग्नं मत्तहस्तिनमिवानन्दमदमत्तं त्वां निन्दास्तोत्रे

"अनन्त ज्ञान और आनन्द के समुद्र रूप इस पर ब्रह्म में जिसका चित्त लीन हो गया है, उसने अपने कुल को पवित्र कर डाला, उसकी माता कृतार्थ (सफल) हो गयी और उससे पृथिवी पुण्यवती हो गयी॥"

इस प्रकार देव-दुर्लभ इस अवस्था को तुम प्राप्त करो। ब्रह्म-निष्ठा के द्वारा ब्रह्म रूप अत एव आनन्द-मग्न, आनन्दरूपी मद से मत्त हो, तुझको मतवाले हाथी की तरह निन्दा और स्तुति क्या

किं कारिष्यतः। मानामानौ त्वां कथं विचालयिष्यतः। अविषमदृष्टिं त्वां लोकः कथं विचालयेत्, कथञ्च विकारयेत्। स्वमहिमप्रतिष्ठं मदमत्तामिभराजमभीरुं भषकभषणानीव भाषकभाषणानि कटुतराणि निन्दापराणि चाश्राव्याणि न व्यथयितुमलं स्युः। लोकस्तावत्तवानुकूलतया प्रतिकूलतया वा

कर सकती हैं? संमान और अपमान (अनादर) तुम को कैसे विचलित कर सकते हैं? जिसकी विषम दृष्टि नहीं है ऐसे अर्थात् तुझ समदर्शी को लोग कैसे विचलित करें और कैसे विकृत करें। अपनी महिमा से अवस्थित, मद से मत्त, निर्भीक हस्ती के राजा को जैसे कुत्तों का भूकना कुछ नहीं बिगाड़ता है वैसे महिमाशाली निर्भय पुरुष को कटु से कटु, अश्राव्य, बोलने वालों के निन्दा के जो वचन हैं वे व्यथित नहीं कर सकते हैं। लोग चाहे तुम्हारे

यथेष्टं विचेष्टताम्, द्वन्द्वातीतस्याद्वन्द्वपदमाधि-
रूढस्य तव तेन को लाभः का वा हानिः।
अनुकूलप्रतिकूलभावस्त्वज्ञानमूलकः। सर्वे-
ऽपि भेदव्यवहारा लौकिकाः शास्त्रीयाश्चा-
ज्ञानमूलकाः। त्वं तु निरस्ताज्ञानो ज्ञानस्व-
रूपः। तथा च त्वयि कथं भेदबुद्धि-
स्तन्निबन्धनोऽनुकूलप्रतिकूलभावश्च संघ-

अनुकूल अथवा प्रतिकूल आचरण पर्याप्तरूप से
करें, द्वन्द्व भाव से रहित, अद्वन्द्व पद पर आरूढ़
हुए तुम्हारा उससे क्या लाभ और क्या नुकसान
होगा? अनुकूलता और प्रतिकूलता अज्ञान-मूलक
होती है। लौकिक और शास्त्रीय जितने भेद-
व्यवहार हैं, सब अज्ञान-मूलक हैं। तुम तो अज्ञान
से रहित, ज्ञान-स्वरूप हो। तब कैसे भेद-बुद्धि
और तन्मूलक अनुकूलता-प्रतिकूलता का ज्ञान

टेत। अयं मम वन्धुः, अयं मम सुहृत्, अयन्तु मम शत्रुः, अयं मम निन्दकः, अयमभेदवादी, अयन्तु भेदवादी, अयं शैवः, अयं वैष्णवः, अयं शाक्तः. अयं वैदिकः, अयन्त्ववैदिकः, अयमास्तिकः, अयन्तु नास्तिक इत्यादयो नानात्वव्यवहारा अविद्याप्रत्युपस्थापिताः सर्वातीतं सर्वा-

---

तुझ में संभावित हो। यह मेरा बान्धव है, यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा निन्दक है, यह अभेदवादी है और यह भेदवादी है, यह शिव-उपासक है, यह विष्णु-उपासक है, यह शक्ति-उपासक है, यह वैदिक है, यह वैदिक नहीं है, यह आस्तिक है और यह नास्तिक है इत्यादि नाना प्रकार के व्यवहार जो अविद्या से उत्पन्न होते हैं, वे सर्वातीत (सब के परे) सर्वा-

त्मभावं गतमविद्यास्पर्शशून्यं त्वां कथं स्प-ष्टुमर्हा भवेयुः।

त्वं ज्ञानेन सर्वं त्यक्त्वा सर्वं भूत्वा च साक्षाच्छम्भुर्भव। इदं सकलं जगज्जलबुद्-बुदवद्वाचारम्भणमात्रमनुपश्य। त्वमनारत-मनात्मतिरस्करणेनानुपाधिक आत्मनि तिष्ठ। तव को वा मोहः को वा शोकः? अनुपा-

---

त्मभाव को प्राप्त और अविद्या से अस्पृष्ट तुझे कैसे स्पर्श कर सकते हैं।

तुम ज्ञान के द्वारा सब का त्याग कर के और सर्वमय हो कर साक्षात् शिव रूप बनो। इस समस्त विश्व को जल की बुद्-बुद् की तरह वाचा-रम्भणमात्र अर्थात् सर्वथा अलीक जानो। तुम सदा अनात्म पदार्थ के तिरस्कार कर के उपाधि-रहित आत्मा में अवस्थित रहो। तुम को क्या तो मोह है अथवा क्या शोक है? उपाधि-शून्य अद्वैत

धिकाद्वैतदृशस्तव कुतः शोकमोहादिप्रसङ्गः। त्वं सहजावस्थायां वस। त्वं भावातीतो-भव। अभावातीतश्च भव। अयं प्रपञ्चो-वहिर्मुखानां क्षणिकतुष्टिकरः। त्वन्तु यद्य-न्तर्मुख आत्मारामस्तव कथमयं तुष्टिहेतुः स्यात्। आत्मनिष्ठो भूत्वा निरङ्कुशां तुष्टि-माप्नुहि, यत्र सातिशयत्वादिदोषाः किञ्चि-दपि न सन्ति।

दर्शी तुम हो, तुम्हें शोक, मोह आदि की क्या आशंका है। तुम अपने अकृत्रिम अवस्था में रहो। तुम भाव पदार्थ से अलग रहो और अभाव पदार्थ से भी अलग रहो। यह संसार बहिर्मुख (अज्ञानी) पुरुषों का क्षणिक सन्तोष-प्रद है, तुम तो अन्त-र्मुख (ज्ञानी), आत्माराम हो, तुम को कैसे यह संतोष-प्रद हो। तुम आत्म-निष्ठ हो कर निर्भय सन्तुष्टि को प्राप्त करो, जहां तारतम्य (न्यूनाधिक्य) आदि दोष किञ्चित् भी नहीं हैं।

अथ येनैतादृशी सहजावस्था, एतादृशं ब्रह्मपदं प्राप्यते, तज्ज्ञानं कथं सिद्ध्यतीतिचेच्छृणु त्वमवहितो भूत्वा। गुरोरनुग्रहादेव ज्ञानमुत्पद्यते पुंसाम्। देशिकानुग्रहमन्तरेण न ब्रह्मविद्या सम्भवति। तस्माद्ब्रह्मात्मविद्याग्रहणार्थं ब्रह्मविदं गुणनिधिं गुरुमुपगच्छ।

"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो-

यदि कहो कि जिससे ऐसी अकृत्रिम अवस्था, ऐसा ब्रह्म-पद प्राप्त किया जाता है वह ज्ञान कैसे प्राप्त होता है तो तुम सावधान हो कर सुनो। गुरु की कृपा से ही मनुष्यों को ज्ञान उत्पन्न होता है, बिना गुरु के अनुग्रह के ब्रह्म-विद्या का होना सम्भव नहीं है। इस लिये ब्रह्मात्म-विद्या के ज्ञान के लिये गुणनिधि ब्रह्मवेत्ता गुरु के पास जाओ।

"ब्रह्म-निष्ठ पुरुष कर्म से प्रवृद्ध लोगों की

निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्,
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥"
"मुण्डकोपनिषत्"

"आचार्यवान् पुरुषो वेद"
"छान्दोग्योपनिषत्"

इत्याद्याः श्रुतयोगुरूपसत्तेरवश्यकर्त-

परीक्षा कर के अर्थात् कर्मार्जित लोगों को अनित्य जान कर उनसे वैराग्य धारण करें, क्योंकि विश्व में नित्य कुछ वस्तु नहीं है और अनित्य से कुछ प्रयोजन नहीं है अतः ब्रह्म-ज्ञान के लिये हाथ में कुशा ले कर वेदज्ञ और ब्रह्म-निष्ठ गुरु के ही पास गमन करें।". "मुण्डकोपनिषत्"

"आचार्यवान् पुरुष ब्रह्म को जानता है।"
"छान्दोग्योपनिषत्"

इस प्रकार की अनेक श्रुति ज्ञान-प्राप्ति के

व्यतामुपदिशन्ति। य उपसन्नस्य शिष्य-स्याज्ञानान्धकारं भास्वता ज्ञानदीपेन नाशयति, तथा च संसारतापतप्तं तं संसार पारं प्रापयति, स गुरुरिति जानीहि।
उक्तं हि गुरोर्लक्षणम् :—
"उपसीदेद्गुरुं प्राज्ञं यस्माद्बन्धविमोक्षणम्।

लिये गुरु-समीप गमन का आवश्यक कर्तव्य जता रही है। जो अपने पास आये हुए शिष्य के अज्ञान रूपी अन्धकार को, प्रकाशमान ज्ञान रूपी दीप के द्वारा विनष्ट करता है और संसार के ताप से परितप्त उस शिष्य को संसार से पार ले जाता है वह गुरु है यह जानो। गुरु का लक्षण कहा गया है—

"जिसके द्वारा संसार रूप बन्ध से मुक्ति प्राप्त हो ऐसे विद्वान् गुरु के समीप जाना चाहिये।

श्रोत्रियोऽवृजनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः ॥
ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः ।
अहेतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम् ॥"

इति "विवेकचूड़ामणिः"

एतादृशलक्षणयुतं गुरुमुपगम्य प्रणामशुश्रूषणादिभिस्तं प्रसादय । तमेवं प्रसा-

---

जो गुरु श्रोत्रिय, निष्पाप, काम-रहित, पूर्ण ब्रह्मवेत्ता हों ।"

जो ब्रह्म-निष्ठ हों, तथा इन्धन नहीं रहने से जैसे अग्नि शान्त रहती है वैसे विषयों के नहीं रहने के कारण प्रशान्त हों, बिना हेतु के दया के समुद्र हों और विनम्र सज्जनों के जो बन्धु हों ।"

इति "विवेकचूड़ामणि"

इस प्रकार के लक्षण से युक्त गुरु के समीप जा कर प्रणाम और शुश्रूषादि आचरणों से तुम उन्हें प्रसन्न करो । उनको इस प्रकार से प्रसन्न

द्यानवद्यामात्मविद्यां पृच्छ। तत्प्रसादात्तन्मुखादात्मविद्यां गृहाण।

तदुक्तम् :—

"तमाराध्य गुरुं भक्त्या प्रह्वप्रश्रयसेवनैः।
प्रसन्नं तमनुप्राप्य पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मनः॥"

इति "विवेकचूडामणिः"

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

कर के अनिन्दित जो आत्म-विद्या है उसे पूछो। उनकी कृपा से उनके मुख से आत्म-विद्या का ग्रहण करो। जैसा कहा भी गया है—

"भक्ति से, प्रिय वचन से, विनय से और सेवा से वैसे गुरु की आराधना कर के उनको प्रसन्न पा कर अपना ज्ञेय विषय (जो जानना है) पूछना चाहिये।" इति "विवेकचूडामणि"

"गुरु को प्रणाम करने, प्रश्न करने और सेवा

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥"
इति च "श्रीमद्भगवद्गीता"

एवं गुरुकटाक्षादेव तत्त्वज्ञानोदयस्तद्दार्ढ्यञ्चेति विद्धि। अतो गुरौ श्रद्धां कृत्वा गुरुमुखाद्वेदान्तान् शृणु। केवल तर्केण हि तत्त्वनिश्चयः केनाऽपि कर्तुं न शक्यते।

"नैषा तर्केण मतिरापनेया"

से तुम ब्रह्म-ज्ञान को जानो। वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी ज्ञान का उपदेश करेंगे।" इति "श्रीमद्भगवद्गीता"

इस प्रकार गुरु के दृष्टि-पात करने से ही तत्त्व-ज्ञान का उदय होता है और उसकी दृढ़ता होती है यह जानो। इस लिये गुरु में श्रद्धा कर के गुरु के मुख से वेदान्त शास्त्रों का श्रवण करो। केवल तर्क के द्वारा कोई भी तत्त्व का निश्चय नहीं कर सकता है।

"यह तत्त्व-ज्ञान तर्क से प्राप्त नहीं किया जा

इति हि काठकश्रुतिः । तस्माद् गुरु-चरणयोर्वेदान्तेषु च श्रद्धां विधेहि प्रथमतः । गुरुशास्त्रयोः श्रद्धा हि ज्ञानस्य मूलकारणम् । गुरुशास्त्रयोः श्रद्धां विना शतकोटिजन्मभिरपि न स्वयं ज्ञानमुत्पत्तुं प्रभवति ।

"आचार्याद्धैव विद्या विदिता
साधिष्ठं प्रापतीति ।"
"छान्दोग्य०"

सकता है ।" यह कठक श्रुति है । इस लिये पहले गुरु के चरणों में और वेदान्त शास्त्रों में श्रद्धा करो, क्योंकि गुरु और शास्त्र का विश्वास ही तत्त्व-ज्ञान का मूल कारण है । गुरु और शास्त्र में श्रद्धा (विश्वास) हुए विना सौ कोटि जन्मों में भी ज्ञान स्वयं नहीं उत्पन्न होता है ।

"आचार्य के द्वारा परिज्ञात विद्या ही ब्रह्म को प्राप्त कराती है ।" "छान्दोग्य०"

"श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि"

"कैवल्य०"

"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्"

"भगवद्गीता"

इत्यादीनि श्रुतिस्मृतिवचनानि शतशः श्रद्धाया महत्त्वं प्रदर्शयन्ति । ततः श्रद्धया गुरुमुखाद्वेदान्तान् श्रुत्वा तदर्थविचारं

"श्रद्धा, भक्ति और ध्यान-योग से ब्रह्म को तुम जानो ।" "कैवल्य०"

"श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान का लाभ करता है ।"

"भगवद्गीता"

इत्यादि सैंकड़ों श्रुति-स्मृति के वचन श्रद्धा के महत्त्व को दिखला रहे हैं । इस लिये श्रद्धा से गुरु-मुख से वेदान्त शास्त्रों को सुन कर उनके अर्थ का विचार करो । इस प्रकार वेदान्त-

कुरु । एवं वेदान्तश्रवणस्योपकारकत्वेन संन्यासश्चावश्यं विधेयो विद्यते । यदि दण्ड-धारणाद्याश्रमरूपः संन्यासः कर्तुं न शक्यते, तर्हि काम्यकर्मादित्यागरूपः संन्यासः खलु कर्तव्यः । आश्रमरूपः संन्यास एव हि सर्वैः शुश्रूषुभिः श्रवणाङ्गत्वेन कर्तव्य इति न कश्चिन्नियमोऽस्ति ।

श्रवण के उपकारक होने से संन्यास भी अवश्य लेना चाहिये । जिसमें दण्ड धारण आदि नियम की व्यवस्था है वह संन्यास आश्रम यदि नहीं किया जा सके तो काम्य कर्म आदि का परित्याग रूप संन्यास तो निश्चय करना चाहिये । सारे वेदान्त-श्रवणाभिलाषियों को श्रवण के अङ्ग रूप से आश्रम रूप संन्यास करना ही चाहिये ऐसा कोई नियम भी नहीं है ।

तदुक्तम् :—

"अयञ्च वेदनहेतुः संन्यासो द्विविधः, जन्मापादककाम्यकर्मादित्यागमात्रात्मकः प्रैषोच्चारणपूर्वकदण्डधारणाद्याश्रमरूपश्चेति ।"

"ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थानां केनचिन्निमित्तेन संन्यासाश्रमस्वीकारे प्रतिबद्धे सति स्वाश्रमधर्मेष्वनुष्ठीयमानेष्वपि वेदनार्थो

वैसा कहा भी गया है—

यह ज्ञान का हेतु संन्यास दो प्रकार का है एक तो जन्म के सम्पादक जो काम्य कर्म आदि हैं केवल उनका ही परित्याग करना और दूसरा 'प्रैष' यह उच्चारण-पूर्वक दण्ड-धारण आदि आश्रम रूप।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ लोगों के किसी निमित्त से संन्यास आश्रम की स्वीकृति रुक जाने पर भी अपने आश्रम-धर्मों के अनुष्ठान

मानसः कर्मादित्यागो न विरुध्यते ।"

इति "जीवन्मुक्तिविवेकः"

एवमङ्गभूतं संन्यासमपि सम्यक् कृत्वा यथाविधि वेदान्तश्रवणे नितरां प्रवर्तस्व । तथाचोपनिषदां सर्वासामपि तात्पर्यं ब्रह्मात्मैक्यविषय इति निश्शङ्कं निश्चिनु। अपौरुषेयत्वादुपनिषदः खलु निर्दोषाः स्वतः

करने पर भी ज्ञान की प्राप्ति के लिये कर्मादि का मानस-त्याग हो सकता है उसका विरोध नहीं है ।"

इति "जीवन्मुक्तिविवेक"

ऐसे अङ्गभूत संन्यास का भी सम्यक् संपादन कर के यथाविधि वेदान्त के श्रवण में अच्छी तरह प्रवृत्त हो जाओ । उस रीति से समस्त उपनिषदों की ब्रह्म और जीव की एकता-सम्पादन करने में ही तात्पर्य है यह निःशङ्क रूप से निश्चय करो । अपौरुषेय (पुरुष-रचित नहीं) होने के कारण

प्रमाणभूता इति विद्धि। ताः सर्वा अप्यैक-कण्ठ्येनैदम्पर्येण ब्रह्मात्मैकत्वमुपदिशान्ति चेत्, तत् सत्यात्सत्यतरमवाध्यमिति श्रद्धत्स्व। एवं वेदान्तवाक्यैः श्रुतस्य ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मरूपस्यार्थस्य सम्यग्युक्त्या सम्भविता चिन्तनं मननम्। श्रवणानन्तरमस्मिन्मनने प्रवर्तस्व। ततः परं तस्मिन्नर्थे सजातीय-

---

समस्त उपनिषद् निर्दुष्ट और स्वतःप्रमाण स्वरूप हैं यह जानो। जब वे संपूर्ण उपनिषद् भी एक स्वर से ब्रह्म और जीवात्मा की एकतामें ही तात्पर्य का कथन करती है तब वह सत्य से भी सत्य और अबाध्य है यह विश्वास करो। इस प्रकार वेदान्त वाक्योंके द्वारा श्रुत ब्रह्मसे अभिन्न प्रत्यक् आत्मा रूप वस्तु का सम्यक् युक्ति के द्वारा चिन्तनरूप मनन हो सकेगा। श्रवण के बाद उस मनन में प्रवृत्त हो जाओ। मनन के पश्चात् उसी वस्तु में सजा-

मनोवृत्तिप्रवाहकरणात्मकं निदिध्यासनं कुरु। तदुक्तम् :—

"इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसन्धानं श्रवणं भवेत्।
युक्त्या सम्भावितत्वानुसन्धानं मननं तु तत् ॥
ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसःस्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते।"

इति "पञ्चदशी"

तीय मानसिक वृत्ति-परम्परा का साधन स्वरूप निदिध्यासन करो। वैसा कहा गया है—

"तत्त्वमसि आदि वाक्यों के द्वारा उन वाक्यों के जीव-ब्रह्म के एकत्व रूप अर्थ का अनुसन्धान (विचार) करना श्रवण है। श्रुत अर्थ को युक्ति के द्वारा युक्ति-युक्त समझना मनन है।

श्रवण और मनन के द्वारा संशय-रहित विषय में अवस्थित चित्त की जो एकाकार वृत्ति-प्रवाहशीलता है वही निदिध्यासन है ॥"

इति "पञ्चदशी"

आदरेण नैरन्तर्येण दीर्घकालमेवं श्रद्धा-पुरःसरमनिर्विण्णभावेनाभ्यासं कुरु । एवं श्रवणमनननिदिध्यासनाभ्यासेन निजस्वरूपं नित्यशुद्धमपरोक्षी कुरु । तथाचाविद्ययात्मनि कल्पितां कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वादि-भ्रान्तिं परित्यज । आत्मा तु तत्त्वतोऽकर्त्ताऽ-भोक्ताऽसंसार्यस्ति, निराकारो निरवयवो नि-

आदरभाव से निरन्तर अत्यधिक समय तक श्रद्धा-पूर्वक विषाद-रहित हो कर अभ्यास करो। इस प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अभ्यास से अपने नित्य, शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करो। तब आत्मा में अविद्या-निबन्धन से कल्पित जो कर्तापन, भोक्तापन, सुख, दुःख आदि भ्रम हैं उन का परित्याग करो। आत्मा तो वास्तव में कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है, संसारी नहीं है। वह तो आकार-रहित, अवयव-रहित, विकार-रहित और

विकारो निर्विशेषोऽस्ति, पुण्यपापविवर्जितोऽस्ति जन्मजरामरणादिविवर्जितोऽस्ति।

तदुक्तम् :—

"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।"
"ईशा०"

"अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्,

समस्त धर्म-रहित है। पुण्य और पाप से रहित है। जन्म, जरा, मरण आदि से सर्वथा रहित है। वैसा कहा गया है—

"वह आत्म-तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति इस जगत के बीजभूत, शरीर-संबन्ध से शून्य, क्षत आदि संबन्ध से शून्य, स्नायु-संबन्ध से शून्य, पवित्र और पाप संबन्ध के लेशमात्र से भी शून्य ब्रह्म तत्त्वको जानता है।" "ईशा०"

"शरीर से रहित, अनित्य शरीरों में नित्य-

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।"

"कठ०"

"अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः।"

"मुण्डक०"

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं,
तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं,

रूप से अवस्थित, महान् विभु आत्मा का मनन कर के धीर पुरुष शोक नहीं करता है।" "कठ०"

"वह आत्मा प्राण से रहित, मन से रहित, शुद्ध है और सबके परे जो अविनाशी मूल प्रकृति है उसके भी परे है।" "मुण्डक"

"शब्द-रहित, स्पर्श-रहित, रूप-रहित अविकारी, रस-रहित, नित्य, गन्ध-रहित और जो आदि-अन्त-रहित, महतत्त्व के भी परे, अविचल

निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥"

"बृहदा०"

"अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राण-

---

है उस आत्मा को वास्तव रूप से जान कर मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है।"

"बृहदारण्य०"

"यह आत्मा स्थूल नहीं है, अणु भी नहीं है, ह्रस्व भी नहीं, दीर्घ भी नहीं, लालसे रहित है, स्नेह-रहित है, छाया-रहित है, तम से रहित है, वायु से रहित है, आकाश से रहित है, सङ्ग से रहित है, रस से रहित है, गन्ध से रहित है, नेत्र से रहित है, श्रोत्र से रहित है, वाणी से रहित है, मन से रहित है, तेज से रहित है, प्राण से रहित

मसुखममात्रमनन्तरमबाह्यम् ।"

"बृहदारण्यक०"

"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" "श्वेता०"
"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
नचैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

है, मुख से रहित है, इन्द्रियों से रहित है और वह अन्तर-बाह्य दोनों से रहित है ॥"

"बृहदारण्यक०"

"वह हस्त पाद से रहित है किन्तु वेग से चलने वाला और ग्रहण करने वाला है, बिना नेत्र का भी देखता है, बिना कर्ण का भी सुनता है ।" "श्वेता०"

"इस आत्मा का छेदन शस्त्र नहीं करते हैं, इसे अग्नि नहीं जलाती है और इसको जल भी नहीं गलाता है, हवा भी नहीं शोषण करती है ।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥" इत्यादि
"श्रीमद्भगवद्गीता"

आत्मा सत्यस्वरूपोऽस्ति। त्रिषु काले-ष्वपि एकरसतया वर्त्तमानोऽस्ति। त्रिषु का-

---

यह आत्मा जन्म नहीं लेता है, न तो कभी मरता है। यह आत्मा एक बार हो कर फिर नहीं होगा यह नहीं, अर्थात् इसका अस्तित्व भूत काल में भी था, भविष्य काल में भी रहेगा। यह जन्म-रहित है, सब काल में रहने वाला है, एक रूप में, यह सब से प्राचीन है, शरीर के मरने पर भी यह नहीं मरता है।" इत्यादि "श्रीमद्भगवद्गीता"

आत्मा सत्य स्वरूप है। भूत-भविष्य-वर्तमान इन तीनों कालों में भी एक रस से रहने वाला है।

लेषु यो न बाध्यते स आत्मेति विजानीहि। शरीरेषु विनश्यत्स्वप्यविनश्यन् यो वर्तते, स आत्मेति विजानीहि।

एवमात्मा चैतन्यरूपोस्ति। जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तिषु सर्वदैकरसतया स्फुरणरूपोऽस्ति। तथा युगकल्पादिष्वप्यविच्छिन्नबोधरूपेण प्रकाशमानोऽस्ति। यस्य भासा सर्वमिदं सूर्य-

---

तीनों कालों में जिसका बाध (स्वरूप-परिवर्तन) नहीं होता है वह आत्मा है यह जानो। शरीर के विनष्ट होने पर भी जो अविनाशी रहता है वह आत्मा है यह जानो।

इस प्रकार आत्मा चैतन्य रूप है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में सदा एक रस से स्फूर्ति रूप है। वैसे युग, कल्प आदि में भी अविच्छिन्न बोध रूप से वह प्रकाश करने वाला है जिसके प्रकाश से सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि यह

चन्द्रनक्षत्रादिकं जगद्भाति, स आत्मेति विद्धि ।

एवमात्माऽनन्दस्वरूपोऽस्ति । यत आत्मा सर्वेषां परमप्रेमास्पदमस्ति । यः सर्वेषां निरतिशयप्रेमविषयः, अत एव निरतिशयानन्दघनः स आत्मेति गृहाण ।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"

"तैत्तिरीय०"

सारा जगत् प्रकाशित होता है वह आत्मा है यह तुम जानो ।

इस प्रकार आत्मा आनन्द स्वरूप है, क्योंकि समस्त प्राणियों का परम प्रेमालम्बन आत्मा है। जो सब के असीम प्रेम का विषय है, इस लिये असीम आनन्दमय वह आत्मा है यह मानो ।

"सत्य और अनन्त ज्ञान स्वरूप ब्रह्म है ।"

"तैत्तिरीय०"

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"
"छान्दोग्य"

"प्रज्ञानं ब्रह्म" "ऐतरेय"

"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "बृहदारण्यक०"

"एवं स्थानत्रयेऽप्येका संवित्तद्वद्दिनान्तरे।

"हे प्रिय! सृष्टि के पहले यह सारा विश्व एक, अद्वितीय सत् रूप ही था।" "छान्दोग्य०"

"प्रकृष्ट ज्ञान रूप ब्रह्म है।" "ऐतरेय०"

विशिष्ट ज्ञान और आनन्द रूप ब्रह्म है।"
"बृहदारण्यक०"

"इस प्रकार तीनों स्थानों में भी अर्थात् एक दिन में होने वाले जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में संवित् (ज्ञान) एक ही है, जिस प्रकार एक दिन में अवस्थाओं के भेद होने पर भी ज्ञान का अभेद रहता है, उसी प्रकार अन्य दिनों में भी ज्ञान का अभेद है। अनेक प्रकार के

मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा ॥
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयं प्रभा ।
इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः ।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते ॥"
"पञ्चदशी"

भूत और भविष्य जो मास, वर्ष, युग, कल्प हैं उन सब में ज्ञान का अभेद है अर्थात् ज्ञान एक ही है।

जिस हेतु संवित् (ज्ञान) एक है इस लिये उसकी उत्पत्ति नहीं होती है और उसका विनाश भी नहीं होता है। यह ज्ञानरूप संवित् स्वयं प्रकाश है अर्थात् किसी अन्य के द्वारा ज्ञेय नहीं है किन्तु स्वप्रकाश रूप से भासमान है अतः समस्त पदार्थों का प्रकाशक है।

यह संवित् (ज्ञान) आत्मा है और असीम सुख स्वरूप है क्योंकि आत्मा असीम स्नेह का विषय है। मेरे अस्तित्व का अभाव कभी न हो,

इत्यादयः श्रुतिस्मृतयः शतयो ब्रह्मात्मनः सच्चिदानन्दरूपतां साङ्गिरन्ते ।

नन्वात्मनः सत्त्वे चित्वेऽपि तस्यानन्द-रूपता कथम् ? विषयाः खलु स्रक्चन्दनव-नितादयः सुखप्रदाः सुखरूपाश्चेति लोके सिद्धमिति चेच्छृणु । रे मूढ़ ! महामूढ़ा एव

किन्तु मेरा अस्तित्व ही सदा कायम रहे इस प्रकार का प्रेम तो आत्मा के विषय में सार्वजनीन अनुभव-सिद्ध है ।" "पञ्चदशी"

इत्यादि सैकड़ों श्रुति-स्मृतियां ब्रह्मरूप आत्मा की सच्चिदानन्दरूपता का कथन करती हैं। यदि कहो कि आत्मा के सत् स्वरूप और चैतन्य (ज्ञान) स्वरूप होने पर भी आनन्द स्वरूप कैसे हो सकता है ? क्योंकि स्रक् (माला), चन्दन, स्त्री आदि जो विषय हैं वे सुखप्रद और आनन्द रूप हैं यह जगत में प्रसिद्ध है, तो सुनो। अरे मूढ़ ! महा-

विषयाः सुखरूपा इति गृह्णन्ति । विवेकिन-स्त्वात्मानमेव सुखरूपं मन्यन्ते । कथम्? आत्मा तु सर्वेषां प्राणिनां निरतिशयप्रेम-विषय इति निर्विवादम् । अन्येषु कलत्रपुत्रा-दिषु विषयेषु विषयिणां यत्प्रेम तदात्मशेषतया भवति । अन्येषु हि यत्प्रेम तदात्मार्थमस्ति । आत्मनि तु यत्प्रेम तदन्यार्थं न भवति ।

मूर्ख लोग ही, विषय सुखरूप हैं यह मानते हैं। विवेकी पुरुष तो आत्मा को ही सुखरूप मानते हैं, क्योंकि आत्मा तो सारे प्राणियों के असीम प्रेम का विषय है यह निर्विवाद सिद्ध है। स्त्री, पुत्र आदि अन्य विषयों में जो विषयी पुरुषों का प्रेम उत्पन्न होता है वह आत्मा के अङ्ग रूप से ही होता है। क्योंकि दूसरों में जो प्रेम उत्पन्न होता है वह आत्मा के लिये ही होता है और जो आत्मा में प्रेम होता है वह दूसरों के लिये नहीं होता है

तस्मादात्मा निरुपाधिकप्रेमाश्रय इति सर्व-प्रत्यक्षतया सिद्ध्यति। आत्मसम्बन्धितयैव स्वरूपतोऽप्रियमप्यनात्मभूतं विषयजातं प्रियायते लोकस्य।

तदुक्तं वार्तिककारैः—

"स्वतोऽखिलोऽप्रियोऽनात्मा,
प्रत्यङ्मोहैकहेतुतः।
प्रत्यगाह्लादकारित्वा-

इस लिये उपाधि-शून्य प्रेम का आश्रय आत्मा है यह सब के प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध है। स्वरूप से अप्रिय, अनात्म स्वरूप जो विषय-पुञ्ज है वह आत्मा के संबन्धी होने से ही लोगों को प्रिय-सा मालूम पड़ता है। जैसा वार्तिककार ने कहा है—

"समस्त अनात्म पदार्थ स्वतः अप्रिय हैं किन्तु प्रत्यक् आत्मा के साथ अध्यास (संबन्ध-कल्पना) होने के हेतु आत्मा के लिये आनन्द-जनक होने

दप्रियोऽपि प्रियो मतः ॥" इति

अतो निरतिशयप्रेमास्पदत्वादात्मा निरतिशयसुखस्वरूप इति निर्विवादोऽयं राद्धान्तः। विषयेषु विषयिभिर्यत्सुखमनुभूयते तदप्यात्मस्वरूपभूतं सुखमिति जानीहि, अनात्मभूतानां स्वतो दृष्टनष्टप्रनष्टस्वभावानां दुःखरूपाणां तेषां सुखस्वरूपत्वासिद्धेः। विषयभोगतः शान्तदशामाटीकमानायां चित्तवृत्तौ

से अप्रिय भी प्रिय माना गया है।" इति

इस लिये असीम प्रेमास्पद होने के हेतु आत्मा असीम सुखरूप है यह सिद्धान्त है। विषयों में विषयी पुरुषों को सुख का जो अनुभव होता है वह सुख भी आत्मा का स्वरूप ही है यह जानो। अनात्म पदार्थ, जो स्वतः दृष्ट, नष्ट, प्रनष्ट स्वभाव वाले हैं वे दुःखरूप हैं उनकी सुखरूपता असिद्ध है। विषय भोग करने से जब प्रशान्त अवस्थामय

स्वरूपसुखमेव नूनं स्फुरति, यद्विषयसुखमिति व्यवह्रियतेऽविवेकिभिः । यथा शुष्काणि नीरसान्यस्थीनि दन्तैर्विचूर्णयन् सारमेयो दन्तच्छिद्रनिस्सृतं स्वकीयं रक्तमास्वाद्यास्थिसम्बन्धि तदित्यभिमन्यते, तथा विषयभोगद्वारा स्वस्वरूपभूतं सुखमेवानुभूय विषयसम्बन्धि तदि-

---

चित्त की वृत्ति होती है तब उस चित्त-वृत्ति में केवल आत्मा का स्वरूप सुख ही निश्चित रूप से भासित होता है, अज्ञानी लोग 'विषय-सुख' कह कर जिसका व्यवहार करते हैं। जैसे शुष्क और नीरस हड्डियों को दांतों से चूर्ण करता हुआ कुत्ता दन्त के छिद्र से निःसृत अपने खून (शोणित) का स्वाद पा कर हड्डियों का खून है ऐसा उसे मान लेता है वैसे अपना ही जो स्वरूप सुख है उसका ही विषय-भोग के द्वारा अनुभव कर के यह सुख

त्यहो ! विपरीतं गृह्णन्ति मूढाः । तथा चात्मातिरिक्तेष्वापातरमणीयेषु विषयेषु गन्धर्वनगरीतुल्येषु हन्त ! हन्त ! ते सुखमिच्छन्ति, तत्रातिमात्रमनुरक्ता भवन्ति च। ततश्च महति दुःखगर्ते मोहाद्गजा इव पतन्ति च। विवेकिनस्तु स्वस्वरूपभूतमेव सुखं, नान्यत्र विप-

---

विषय से उत्पन्न हुआ है, ऐसा उल्टा अज्ञानी लोग उसे समझते हैं यह आश्चर्य है। और उसी तरह आत्मा से भिन्न केवल देखने में रमणीय गन्धर्व नगर के समान अर्थात् अलीक विषयों में वे सुख की अभिलाषा करते हैं यह बड़े खेद की बात है। उसमें अत्यन्त अनुरक्त हो जाते हैं और तब विशाल दुःख के गड्ढे में मोह से हाथियों की तरह गिर जाते हैं। विवेकी पुरुष को तो अपने स्वरूप का ही सुख रहता है, अन्य विषयों में कुछ भी

येषु किञ्चिदऽपि सुखमस्ति, ते सततं सर्वथा दुःखरूपा एवेति सम्यग् ज्ञात्वा तेषु काकविष्ठावद् दृढतरं वैराग्यमास्थायात्मारामा आत्मनिष्ठाश्च भवन्ति। अस्मिन्नर्थे बृहदारण्यकस्थां प्रसिद्धामिमामाख्यायिकां न्यायोपबृंहितामादरेण शृणु ।

पुरा किल मिथिलाधिपस्य श्रीजनकस्य राजर्षेर्गुरुर्याज्ञवल्क्यो नाम विद्यातप आदिषु

सुख नहीं हैं। वे विषय सदा सब तरह से दुःखरूप ही है यह सम्यक् जान कर काक-विष्ठा की तरह उनसे सुदृढ़ वैराग्य कर के लोग आत्माराम आत्म-निष्ठ होते हैं। इस विषय में बृहदारण्यक की नीति से युक्त इस प्रसिद्ध कथा को आदरभाव से सुनो।

पूर्व काल में मिथिला के राजा राजर्षि श्री-जनक के गुरु याज्ञवल्क्य नाम के विद्या, तप

गुणेष्वद्वितीयो ब्रह्मर्षिरासीत्। तस्य मैत्रेयी कात्यायनी चेति द्वे भार्ये आस्ताम्। एकदा याज्ञवल्क्यः शिष्टां विशिष्टविद्यावतीं प्रेष्ठां ज्येष्ठभार्यां मैत्रेयीमामन्त्र्येदमब्रवीत्। "यदहं गार्हस्थ्यं त्यक्त्वा प्रव्रज्यां चिकीर्षुरस्मि। तदर्थं तवानुज्ञां प्रार्थये। कात्यायन्या सह तव सपत्नीतया यो धनादिना सम्बन्धोऽस्ति, तस्य

आदि गुणों में अद्वितीय ब्रह्मर्षि थे। उन्हें मैत्रेयी और कात्यायनी दो स्त्रियां थीं। एक समय याज्ञवल्क्य ने शिष्ट, तथा महा विदुषी, प्रिय और ज्येष्ठ मैत्रेयी नाम की स्त्री को संबोधन कर के यह कहा कि "मैं गार्हस्थ्य आश्रम त्याग कर के संन्यास करने की इच्छा करता हूं, उसके लिये तुम्हारी संमति चाहता हूं। कात्यायनी के साथ तुम्हारे सपत्नीभाव (सौतभाव) से जो धन आदि का संबन्ध है उसका विच्छेद करना चाहता

विच्छेदं कर्तुमिच्छामीति ।" एवमुक्ता मैत्रेयी याज्ञवल्क्यं स्वपतिमब्रवीत् । "भो भगवन् ! यदीयं सर्वा पृथ्वी धनेन पूर्णा मम स्यात् तदा किं तेनाहं मुक्ता भवेयामिति । तच्छ्रुत्वा सुप्रसन्नः स्वप्रियां प्रत्युवाच याज्ञवल्क्यः । "अरे मैत्रेयि ! वित्तेन त्वमृतत्वस्याशा नास्ति, उपकरणवतां यादृशं जीवितं स्यात्, तादृशं

हूं ।" ऐसा कहने पर मैत्रेयी ने अपने पति याज्ञवल्क्य से कहा—"हे भगवन् ! यदि यह धन से परिपूर्ण सारी पृथ्वी मेरी हो जाय तो क्या मैं धन आदि से मुक्त हो जाऊँगी अर्थात् धन आदि की अभिलाषा मेरी नष्ट हो जायगी ? यह सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हो कर याज्ञवल्क्य ने अपनी प्रिया से कहा–हे मैत्रेयि ! धन से तो अमृतत्व (मोक्ष) की आशा नहीं है । साधन-सम्पन्न संसारी पुरुषोंका जैसा जीवन होता है वैसा ही जीवन तुम्हारा भी

तवाऽपि स्यादिति। एतन्मुनिवचनमाकर्ण्य मैत्रेयी पुनरप्युक्तवती। "भो भगवन्! यद्भवन्तोऽमृतत्वसाधनं जानन्ति, तदेव मे ब्रूहि। भोगैश्वर्यसाधनं संसारहेतुमन्यद्वित्तमहं न काङ्क्षे" इति। इदं मैत्रेय्या धीरं प्रगल्भञ्च वचनं वार्तिककारैरित्थं स्पष्टीक्रियते।

"अनुरक्तां प्रियां साध्वीं वद्ध्वा वित्तेन मां कथम्।

होगा। ऋषिके इस वचन को सुन कर मैत्रेयी ने फिर कहा—हे भगवन्! आप जिस को मोक्ष-साधन जानते हैं वही मुझे कहें। भोग और ऐश्वर्य रूप साधन संसार का हेतु है वह अन्य वित्त है उसे मैं नहीं चाहती हूँ। मैत्रेयी का सार-गर्भित महत्त्व-पूर्ण इस वचनका स्पष्टीकरण वार्त्तिककार ने इस प्रकार किया है :—

"अनुराग-युक्त मुझ पतिव्रता प्रिया को वित्त (धन) से बांध कर और अभिलाषा का उच्छेद

कामोच्छित्तिमकृत्वा च संन्यसन्ति भवद्विधाः ॥
वित्ताच्चेदमृतत्वं स्यात्तत्तितिक्षा न युज्यते ।
वित्ताच्चेन्नामृतत्वं स्याद्वद तेन ममापि किम् ॥
स्वभावादेव साधूनां प्रवृत्तिरुपकारिणी ।
अपकारिण्यपि जने किमु भक्तजनं प्रति ।" इति

नहीं करके आपके समान व्यक्ति कैसे संन्यास लेते हैं ॥"

यदि वित्त से अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त होता तो मोक्ष के लिये तितिक्षा (शीत-उष्णादि-सहन) करने की जरूरत नहीं पड़ती और यदि वित्त से अमृतत्व नहीं मिलता है तो कहिये उस वित्त से मेरा ही क्या लाभ है ?

साधुओं की उपकार करने की वृत्ति जब हानि करने वाले व्यक्ति के प्रति भी स्वभाविक है, तब अपने भक्त जनके लिये कहना ही क्या है ।" इति

मैत्रेयीवचनमिदमुपश्रुत्यातिप्रमोदमवाप याज्ञवल्क्यः, मन्दस्मितविकसितश्चाभूत्तस्य मुखम्। अहो! दृष्टानुश्राविकविषयेषु देवानामपिदुर्लभं भामिन्या वैराग्यम्। तीव्रामात्मतत्त्वजिज्ञासां दृष्ट्वा स तुष्टीभूय तस्यै तत्त्वमुपदेष्टुमारभते स्म।

"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भव-

मैत्रेयी के इस वचन को सुन कर याज्ञवल्क्य ने अत्यन्त प्रसन्नताको प्राप्त किया। ईषत् हास्य से उनका मुख खिल उठा। आश्चर्यकी बात है कि लौकिक तथा पारलौलिक विषयों से देव-दुर्लभ वैराग्य इस बुद्धिमती स्त्री को प्राप्त है। आत्म-तत्त्व की तीव्र जिज्ञासा को देख कर उसने प्रसन्न हो कर उसे ब्रह्म-ज्ञानका उपदेश देना आरम्भ किया।

"हे मैत्रेयि! पति की कामना-पूर्ति के लिये

त्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भव-
त्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।
न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भव-
न्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।
न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भव-

पति प्रिय नहीं होता है, अपनी कामना-पूर्ति के लिये पति प्रिय होता है।"

"हे मैत्रेयि! स्त्री की कामना-पूर्ति के लिये स्त्री प्रिय नहीं होती है, अपनी कामना-पूर्ति के लिये स्त्री प्रिय होती है।"

"हे मैत्रेयि! पुत्रोंकी कामना-पूर्ति के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते हैं, अपनी कामना-पूर्ति के लिये पुत्र प्रिय होते हैं।"

हे मैत्रेयि! सबकी कामना-पूर्ति के लिये सब

त्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ॥”

एवं पतिर्जाया पुत्रा वित्तमित्यादयः सर्वेऽपि विषया आत्मार्थं प्रियाः, आत्मा तु निरुपाधिकः प्रियः। तस्मात्

“आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

इत्युपदिश्य मुनिरुपरराम।

प्रिय नहीं हैं अपनी कामना-पूर्ति के लिये सब प्रिय मालूम पड़ते हैं।”

इस प्रकार पति, स्त्री धन आदि समस्त विषय आत्माके लिये प्रिय होते हैं और आत्मा तो किसी प्रकारकी उपाधि (सहारा) के बिना ही प्रिय है। इस लिये “आत्मा का ज्ञान करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिये, निदिध्यासन (सदा भावना) करना चाहिये।” यह उपदेश देकर ऋषि शान्त हो गये।

एवमनतिशयप्रेमास्पदत्वादनतिशयानन्दस्वरूप आत्मेति शतशः श्रुतिस्मृतिन्यायवादाः प्रवृत्ताः । तथा च सच्चिदानन्दरूपत्वमात्मनः स्वरूपलक्षणमिति विद्धि । प्रतिक्षणपरिणामिन्यस्मिन् शरीरेऽपरिणामितया कूटस्थरूपेण यो वर्तते, स आत्मा । जन्मनः प्राक् ततः पश्चात् बाल्ये कौमारे यौवने वा-

इस प्रकार असीम प्रेमके अवलम्ब होनेके कारणं आत्मा असीम आनन्द स्वरूप है इसके प्रमाण में सैकड़ों श्रुति-स्मृति नीतिके वचन उपलब्ध हैं। इस तरह आत्मा का जो सच्चिदानन्द रूप है वह स्वरूप लक्षण है यह जानो। प्रति क्षण इस परिवर्त्तनशील शरीरमें जो परिवर्तन-शून्य कूटस्थरूपसे (अविकृत रूपसे) विद्यमान रहता है वह आत्मा है। जन्मके पूर्व और पश्चात् बाल्य, कौमार, यौवन और वृद्धावस्थामें

र्द्धक्ये च मरणादूर्ध्वञ्च शरीरस्य, शरीरवदव-स्थान्तरमप्राप्यैवैकरसो योऽवतिष्ठते स आ-त्मा। तर्हि कथं न दृश्यते आत्मा शरीरवत् सर्वैरिति चेदत्यल्पमिदमुच्यते। आकाशादपि सूक्ष्मतरत्वान्निर्गुणत्वादतीन्द्रियत्वान्न कस्या-पीन्द्रियस्य गोचरो भवत्यात्मा।

यदुक्तम्—

शरीरकी मृत्युके बाद भी शरीर की तरह दूसरी अवस्था को प्राप्त नहीं कर के ही जो एकरस हो कर अवस्थित रहता है वह आत्मा है। ऐसा होने पर शरीर की तरह आत्मा सब से दृष्ट क्यों नहीं होता है यह प्रश्न साधारण है क्योंकि आकाश से भी सूक्ष्म होने निर्गुण होने और अतीन्द्रिय पदार्थ होने के कारण आत्मा किसी इन्द्रियका विषय नहीं होता है। जैसा कहा गया है—

"यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदंश्रुतम्।

"जो वाणी के द्वारा कथित नहीं होता है, जिसके द्वारा वाणी अपने व्यापार करने में समर्थ होती है।

मन-बुद्धि रूप अन्तःकरण के द्वारा कोई भी पुरुष जिसको नहीं जानता है, जिसके द्वारा मन-बुद्धि रूप अन्तःकरण अपने कार्य करने में समर्थ होता है।

श्रोत्र-इन्द्रिय के द्वारा कोई भी पुरुष जिसको नहीं सुनता है, जिसके द्वारा श्रोत्र इन्द्रिय अपने कार्य करने में क्षम (समर्थ) होता है।

प्राण-अपान आदि पञ्च प्राणों के द्वारा जो जीवित नहीं रहता है। पञ्च प्राण जिसके द्वारा

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ॥"

इति "केन०"

एवमक्षैरन्तःकरणेन चात्मनोऽगृह्यमाणत्वेऽपि न स नास्तीति। अस्त्येव सः। कथम्?

"येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्।

शरीर धारण रूप अपने व्यापार करने में समर्थ होते हैं वही ब्रह्म है।" इति "केन०"

इस प्रकार समस्त इन्द्रियों और अन्तःकरण से ज्ञेय नहीं होने पर भी वह नहीं है यह नहीं कहा जा सकता है। वह विद्यमान ही है। क्योंकि-

"समस्त लोक जिस ज्ञानस्वरूप आत्माके द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुन अर्थात् परस्पर संयोग से उत्पन्न सुखानुभव को अच्छी-तरह मालूम करता है। इस आत्मस्वरूपावस्थित मोक्षमें क्या ज्ञातव्य अवशिष्ट रह जाता है, कुछ

एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यत एतद्वैतत्
"कठोपनिषत्"

इति श्रुत्युक्तरीत्या योऽस्मिन्देहे बुद्धि-गुहायामवस्थितः सन् बाह्यान् शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धादिवृत्तिभेदांस्तथाऽन्तरान् कामक्रोध-लोभभयादिवृत्तिभेदान् तदभावञ्च प्रकाशयति

भी नहीं अर्थात् वह सर्वज्ञ हो जाता है, नचिकेता के द्वारा जिज्ञासित वही विष्णुका यह परम पद है। "कठोपनिषत्"

इस श्रुतिके द्वारा कथित रीति से जो इस देह में बुद्धि रूप गुहा में अवस्थित हो कर बाह्य जो शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध आदि चित्त-वृत्ति के प्रभेद हैं तथा आन्तर जो काम,क्रोध,लोभ,भय आदि चित्त-वृत्ति के प्रभेद हैं उन सबको तथा उनके अभाव को जो प्रकाशित करता है वह

स आत्मा। सोऽस्त्येव। आत्मा दृश्यरूपेण न प्रकाशते। तथाऽप्रकाशमानोऽपि दृग्रूपेण स सदा स्वयं प्रकाशत एव। यथा नेत्रश्रोत्रादीनि स्वस्वविषयान् प्रकाशयन्ति परं तैस्तानि न प्रकाश्यन्ते, एवमात्मा दृग्रूपः सर्वमपि दृश्यजातं प्रकाशयन्नपि न तेन स दृश्यते,

आत्मा है, वह तो विद्यमान ही है। आत्मा दृश्य रूप से प्रकाशमान नहीं होता है। दृश्य रूपसे प्रकाशमान नहीं होने पर भी दृक् (ज्ञान) रूपसे सदा स्वयं प्रकाशमान रहता ही है। जैसे नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रियां अपने-अपने विषयोंको प्रकाशित करती हैं किन्तु विषयोंसे इन्द्रियां प्रकाशित नहीं होती हैं। ऐसे ही दृक्रूप (ज्ञान रूप) आत्मा समस्त दृश्य वस्तुओं का प्रकाशक होता हुआ भी उन दृश्य वस्तुओं से प्रकाशित नहीं होता है। तो भी उसके अस्तित्व के अभाव की

तथापि तस्यासत्ता न शङ्कितुं योग्या ।

किञ्च तूष्णीमवस्थायां सुषुप्तौ समाधौ च विक्षिप्तवृत्तेरभावात् स्वस्वरूपसुखरूपतया य आभाति स आत्मा। सोऽस्त्येव । अहो ! यथा सुवर्णनिधेरुपरि गच्छन्तोऽपि जनास्तं निधिं न जानान्ति, तथाऽहरहः सुषुप्तौ सुख-रूपमात्मानमनुभवन्तोऽपि मूढास्तं न जान-

---

आशंका नहीं की जा सकती है ।

फिर भी शान्त सुषुप्ति (निद्रा) और समाधि अवस्था में चित्त की विक्षिप्त (परिवर्तन शील) वृत्ति के अभाव रहने से अपने स्वरूप के सुख रूप से जो भासित होता है वह आत्मा है। आश्चर्य की बात है कि जैसे सुवर्ण (सोने) की खानके ऊपर से चलते हुए भी मनुष्य उस खान को नहीं जानते हैं वैसे प्रति दिन सुषुप्ति (निद्रा) अवस्थामें सुखरूप आत्माका अनुभव करते हुए

न्तीति। प्रतिदिनं सर्वजनसाधारणतयाऽत्मा-
नुभवेऽप्यात्माऽननुभवः प्रत्यपादि सानुक्रोशं
छान्दोग्यश्रुत्या।

आत्मन एवमसङ्गसच्चिदानन्दरूपत्वेऽपि
मूढास्तन्न जानन्ति। अज्ञानेनासङ्ग आन-
न्दघने नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे स्वात्मनि

भी अज्ञानी लोग उसे नहीं जानते हैं। प्रति दिन
साधारण रूप से आत्मा के सार्वजनीन अनुभव
रहने पर भी वास्तव रूप में आत्मा का वह अनु-
भव नहीं है इसका प्रतिपादन (कथन) छान्दोग्य
श्रुति ने अच्छी तरह किया है।

इस प्रकार आत्मा के असङ्ग और सच्चिदा-
नन्द स्वरूप होने पर भी अज्ञानी लोग उसे नहीं
जानते हैं। असंग, आनन्दमय, नित्य, शुद्ध,
बुद्ध, (चैतन्य) मुक्त स्वभाव वाले अपने

देहेन्द्रियमन आदीनि तद्धर्मान् स्थूलत्वकृश-त्वबधिरत्वान्धत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखि-त्वादींश्चाध्यस्यन्ति । तथा चाहं स्थूलः कृशो-बधिरोऽन्धः कर्त्ता भोक्ता सुखी दुःखीति हन्त ! हन्ताभिमन्यन्ते च । अज्ञानमेव तत्र कारणं नान्यत् किञ्चिदिति विद्धि । अज्ञानं

आत्मामें अज्ञान से देह, इन्द्रिय, मन आदि और उनके धर्म—स्थूलता, कृशता, बधिरता, अन्धता, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख आदिका अध्यास (कल्पना) करते हैं। वैसा करके मैं स्थूल हूँ (मोटा) हूं, मैं कृश (पतला) हूं, मैं बधिर हूं, मैं अन्ध हूं, मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, इस प्रकार की भी कल्पना करने लगते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है। उसका हेतु अज्ञान ही है, दूसरा कुछ नहीं है यह जानो। अज्ञान का क्या स्वरूप है यह सुनो।

किं स्वरूपमिति चेच्छृणु। भावरूपमनिर्वाच्यमज्ञानमिति जानीहि। अज्ञानमेव माया अविद्याऽव्यक्तं प्रकृतिरित्यादिशब्दैर्बहुभिर्व्यपदिश्यते।

तदुक्तम् :—

"अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति—
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया,

भावरूप अनिर्वचनीय सत्-असत् से विलक्षण अज्ञान है यह जानो। अज्ञान ही माया, अविद्या, अव्यक्त, प्रकृति इत्यादि अनेक संज्ञाओं के द्वारा कहा जाता है। वैसा कहा गया है—

अव्यक्त नामकी परमात्मा की शक्ति है, वह सत्त्व-रज-तम रूप त्रिगुणात्मक अनादि अविद्या है, मूल प्रकृति है, बुद्धिमान् व्यक्ति उसके कार्य से ही उसका अनुमान कर सकते हैं, वही

यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥
सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो,
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो ।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो,
महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा ॥" इति
"विवेकचूड़ामणिः"

माया है, जिससे यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है ।

वह सत् नहीं है, असत् भी नहीं है और उभयात्मक (सत्-असत् रूप) भी नहीं है । वह भिन्न नहीं है, अभिन्न भी नहीं है और उभयात्मक (भिन्न-अभिन्न रूप) भी नहीं है, वह अङ्ग-सहित नहीं है, अङ्ग-रहित भी नहीं है और उभयात्मक (साङ्ग-अनङ्ग) भी नहीं है । ऐसा अनिर्वचनीय (जो कहने में नहीं आवे) अत्यन्त विचित्र है ॥" इति "विवेकचूड़ामणि"

अस्या अविद्यायाः कार्यभूत आत्मानात्मनोर्विरुद्धस्वभावयोरपीतरेतराध्यास एवानादिकालप्रवृत्तः सर्वसंसारानर्थस्य हेतुः। अभ्रं महान्तं भास्वन्तमिव धूलीपटलञ्चाकाशमिवाथ शैवालञ्चजलमिवेयमविद्याऽत्मानमा-

---

इस अविद्या के द्वारा परस्पर विभिन्न स्वभाव वाले आत्मा और अनात्मा (चैतन्य-जड़) का परस्पर अध्यास हो जाता है अर्थात् दोनों आपस में एक दूसरे में अभिन्न रूप से अध्यस्त [कल्पित] हो जाते हैं, वही अध्यास अनादि काल से विद्यमान समस्त संसार स्वरूप अनर्थ का हेतु है। जैसे मेघ महान् सूर्य के तथा धूल-पुञ्ज आकाश के और शैवाल (जल में रहने वाला तृण विशेष) जल के आश्रय रह कर जीवित होता है और अपने-अपने आश्रय को ही विषय करता है अर्थात् उसे ही अच्छादित करता है, वैसे ही यह अविद्या भी आत्मा के आश्रित रह

श्रित्य जीवति, तमेव विषयी करोति च । अत-एवोक्तं श्रीसर्वज्ञमुनिभिः—

"आश्रयत्वविषयत्वभागिनी,
निर्विभागचितिरेव केवला ।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो,

कर ही अपना अस्तित्व कायम रखती है और उसी आत्मा का आवरण करती है । अत एव श्री-सर्वज्ञ मुनि ने कहा है—

"जीव-ईश्वर-विभाग रहित चेतन अर्थात् शुद्ध ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय और विषय भी है । (जैसे गृह के आश्रित अन्धकार गृह को ही आच्छादित करता है, जीव न तो अज्ञान का आश्रय है और न विषय है, क्योंकि जीव का निर्माण अज्ञान से होता है और अज्ञान स्वतन्त्र नहीं रह सकता है, निराश्रय अज्ञान नहीं रहता है अतः प्रथम किसी के आश्रित अज्ञान हो, तब अज्ञान से जीवभाव सिद्ध हो) पूर्व सिद्ध अज्ञान का आश्रय

नाश्रयो भवति नाऽपि गोचरः ॥" इति
"संक्षेपशारीरकम्"

तथा च स्वकीयया‌ऽवरणशक्त्याऽत्मानमावृत्येतरया विक्षेपशक्त्या भूतभौतिकात्मकमिदं जगत्सृजाति सा रज्ज्वामिव भुजगम् । एवमविद्याया असङ्ग शुद्ध आत्मनि कार्यकरणात्मकस्य जगतः सर्जनमथवाऽविद्यया तत्र

या विषय उससे पश्चात् उत्पन्न जीव नहीं हो सकता है ।" "संक्षेपशारीरक"

उस प्रकार से वह अविद्या (अज्ञान) अपनी आवरण शक्ति से आत्मा को आंच्छादित कर के अपनी विक्षेप नाम की दूसरी शक्ति से भूत-भौतिकमय इस विश्व का निर्माण करती है, जैसे वह रज्जु में सर्प का निर्माण करती है । इस प्रकार संग-रहित, शुद्ध आत्मा में कार्य-कारण संघ रूप विश्व की उत्पत्ति अविद्या से है अथवा उस

तस्याध्यासः सर्वव्यवहारस्याहं ममेत्यादेर्मूल-मिति जानीहि।

तदुक्तमध्यासभाष्ये—

"युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयि-णोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभा-

---

शुद्ध आत्मा में उस विश्व का अध्यास (कल्पना) अविद्या से है, वह अध्यास 'मैं' 'मेरा' आदि समस्त व्यवहारों का मूल है यह जानो। वैसा अध्यास भाष्य में कहा गया है—

"विषय तथा विषयी (बाह्य तथा आन्तर पदार्थ) अर्थात् विषय (बाह्य विश्व) तथा विषयी (आन्तर आत्मा) ये दोनों पदार्थ 'तुम और हम' इन दो शब्दोंके द्वारा परिज्ञात होते हैं। ('तुम' शब्द से विश्व का 'हम' शब्द से आत्मा का परिज्ञान होता है) उक्त दोनों पदार्थ अन्धकार-प्रकाश की तरह आपस में बेमेल हैं, उन दोनों का पारस्परिक

वानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः, इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणाञ्चाध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्। तथाऽपि अन्योन्यास्मिन्नन्यो-

---

अभेद होना युक्ति-शून्य है अतः उनके अलग-अलग धर्मों का भी एक की दूसरे के साथ एकता नहीं बन सकती है इस लिये 'हम' इस ज्ञान के ज्ञेय चैतन्य आत्मारूप विषयी (आत्मा) में, 'तुम' इस ज्ञान के ज्ञेय विषय का और उसके धर्मों का अध्यास (कल्पना) तथा उसके विपरीत रूप से विपयी (आत्मा) का और उसके धर्मों का विषय में अध्यास (कल्पना) का मिथ्या होना यद्यपि युक्त है, तो भी एक में दूसरे के स्वरूप का और दूसरे के धर्मों का अर्थात् आत्मा और

न्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेन, अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य—"अहमिदं" "ममेदमिति" नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः ।" इति

"अध्यासो नामातस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवो-

विषय दोनों का और दोनों के धर्मों का परस्पर दोनों में, दोनोंके वास्तव स्वरूप के ज्ञान नहीं रहने से अध्यास कर के अत्यन्त विभिन्न दोनों धर्मियों का और दोनों के विभिन्न धर्मों का मिथ्या ज्ञान-नियन्धन सत्य और अनृत (मिथ्या) को मिला कर के 'मैं यह हूं' 'मेरा यह है' इस प्रकार यह नैसर्गिक लौकिक व्यवहार हो रहा है ।" इति

"अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का जो ज्ञान है वह अन्यास है यह हम कह चुके हैं । जैसे कि—

चाम। तद्यथा—पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वाऽहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति। तथा देहधर्मान् स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान् मूकः काणः क्लीबो बधिरोऽन्धोऽहमिति। तथाऽन्तःकरणधर्मान् कामसङ्कल्पविचिकित्साध्यवसायादीन्।

पुत्र, स्त्री आदि के दुःखी या सुखी होने पर 'मैं ही दुःखी या सुखी हूं' इस रूप से बाहर के धर्मों का अपने में (आत्मा में) मनुष्य अध्यास करता है। वैसे देह के धर्मों का—जैसे मैं स्थूल हूं, मैं कृश हूं, मैं गौर हूं, मैं ठहरता हूं, मैं जाता हूं और मैं लांघता हूं आदि। वैसे इन्द्रिय के धर्मों का—जैसे मैं गूंगा हूं, मैं काण हूं, मैं नपुंसक हूं, मैं बधिर हूं, मैं अन्ध हूं इस रूप से आत्मा में अध्यास करता है। वैसे काम, संकल्प, संशय, निश्चय

एवमहं प्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तञ्च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यति। एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः।" इति च

आदि अन्तःकरण के धर्मों का आत्मा में अध्यास करता है। इस तरह 'अहं' प्रतीति-विशिष्ट अन्तःकरण का, अन्तःकरण के समस्त व्यापार के साक्षी प्रत्यक् आत्मा में अध्यास कर के और उसके विपरीत रूप से सर्व-साक्षी प्रत्यक् आत्मा का अन्तःकरण आदि में अध्यास करता है। इस प्रकार प्रवाहरूप से अनादि और ज्ञान के उदय तक अनन्त (अविनाशी), कर्तृत्व-भोक्तृत्व का संपादक मिथ्याज्ञान स्वरूप यह नैसर्गिक अध्यास सब लोगों के अनुभव सिद्ध है।

इममध्यासमन्तरेण शास्त्रीयो लौकिकश्च प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारः कोऽपि न सम्भवति। वस्तुतोऽविद्यमानं सद्विद्यमानमिव प्रतिभाति ग्राह्यग्राहकरूपमिदं जगदविद्यया। अहो! अविद्याया अघटितघटनापटीयस्त्वम्। सर्वोऽपिकर्तृकर्मक्रियाव्यवहारः प्रतीतिमात्रसत्ताको न वास्तविकः कथमपि किञ्चिदपि, वार्तमा-

---

बिना इस अध्यास के शास्त्रीय और लौकिक प्रमाण-प्रमेय आदि व्यवहार कुछ भी सम्भव नहीं। ज्ञेय-ज्ञाता रूप यह जगत् वास्तव में अविद्यमान है किन्तु अविद्या के हेतु विद्यमान की तरह भासित होता है। अविद्या की असंभव को संभव कर देने की आश्चर्य क्षमता है। कर्त्ता-कर्म-क्रिया आदि का सारा व्यवहार प्रतीतिमात्र से है, किसी तरह कुछ भी वास्तविक नहीं है। आज-

निकचित्रचेष्टित (सिनेमा) वदथवा रज्जु-सर्पविसर्पणवदिति संग्रहतः सिद्धान्तं विद्धि।

एवं सर्वसंसारानर्थस्य बीजभूतं त्रिपुटी-व्यवहारप्रवर्तकमिममविद्यारूपमध्यासमात्मैक-त्वविद्यया विध्वंसय। अविद्या हि विद्ययैव विनाश्यते, नान्येन कर्मणा तपसा दानेन वा

कल के सिनेमा के चित्र के व्यापार की तरह अथवा रज्जु में सर्प की प्रतीति की तरह वास्तविक नहीं है इस सिद्धान्त को संक्षेप में ही तुम जान लो।

इस प्रकार समस्त संसार स्वरूप अनर्थ के बीज स्वरूप 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' इस प्रकार के त्रिपुटी व्यवहार का सम्पादक इस अज्ञानरूप अध्यास का, आत्मा के वास्तविक ज्ञान से विध्वंस करो। क्योंकि अज्ञान तो ज्ञान से ही विनष्ट होता है, किसी अन्य कर्म से, तपस्या से, दान से अथवा

प्रवचनेन बहुश्रुतेन मेधाबलेन वा। यस्य कस्यचिद्वा पदार्थस्याज्ञानं तज्ज्ञानेनैव विनिवर्तते, नान्येन यज्ञेन जपेन स्तोत्रेण कीर्तनेन, तीर्थाटनादिना वेति प्रसिद्धतरं लोके शास्त्रे च।

उक्तं हि नैष्कर्म्यसिद्धौ श्रीसुरेश्वराचार्यचरणैः—

"वेदावसानवाक्योत्थसम्यग्ज्ञानाशुशुक्षणिः।

प्रवचन से या शास्त्रों के अधिक श्रवण से अथवा बुद्धि-बल से वह नष्ट नहीं होता है। जिस किसी वस्तु का भी अज्ञान रहता है उसके ज्ञान से ही वह विनष्ट होता है, उससे भिन्न यज्ञसे, जपसे, स्तोत्र से, कीर्तन से या तीर्थाटन आदि से नष्ट नहीं होता है यह लोक में और शास्त्र में भी प्रसिद्ध है। नैष्कर्म्य सिद्धि में पूज्य श्री सुरेश्वराचार्य ने कहा है—

"वेद के अवसान वाक्य अर्थात् 'तत्त्वमसि'

दन्दहीत्यात्मनो मोहं न कर्माप्रतिकूलतः ॥"
इति।

अथ "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थाना"मित्यादिसूत्रयता श्रीजैमिनिनाऽन्यैश्च तदनुवर्तिभिर्यदुक्तं वेदस्यानर्थक्यं क्रियार्थत्वेऽथान्यच्च कर्मभ्यः कैवल्यमित्यादि

आदि महावाक्यों से उत्पन्न ज्ञानरूपी अग्नि जीवात्मा के मोह को जला डालती है। कर्म नहीं जलाता है क्योंकि कर्म तो मोह के प्रतिकूल नहीं है।" इति

"कर्म काण्ड के लिये वेद की प्रवृत्ति है अतः वेद के जो कर्म-बोधक वाक्य नहीं हैं वे व्यर्थ हैं" इत्यादि सूत्र के द्वारा श्रीजैमिनि ने और उनके अनुगामी लोगों ने जो यह कहा कि—वेद के कर्म-बोधक होने के कारण उसके अतिरिक्त वेद वचन अनर्थक (व्यर्थ) हैं और कर्म कलाप से भिन्न मोक्ष

"असदर्थप्रलापोऽय"मिति तैरेव तत्र तद्दूषितमिति विजानीहि । अतो वेदावसानवाक्योत्थया आत्मैकत्वविद्ययेमामनादिकालप्रवर्तमानामविद्यामाशु विनाशय । आत्मतत्त्वावधारणमेवाऽऽत्मैकत्वविद्या । प्रागुक्तैः श्रवणादिभिस्तामात्मविद्यां प्राप्नुहि । श्रवणादीनां नि-

है इत्यादि कथन असत् अर्थ का प्रलपन मात्र है । क्योंकि उस कथनको उन लोगों ने ही वहां दूषित कर दिया है यह जानो । इस लिये वेद के अन्तिम वाक्य अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से उत्पन्न आत्मा के एकत्व ज्ञान से अनादि काल से प्रवृत्त इस अविद्या का शीघ्र विनाश करो । आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निश्चित रूप से ज्ञान करना ही आत्मा का एकत्व ज्ञान है । पूर्व कथित श्रवण आदि के द्वारा आत्म-विद्या (आत्मा का एकत्व ज्ञान) प्राप्त करो । श्रवण आदि के निरन्तर

रन्तराभ्यासेन संशयभावनां विपरीतभावनाञ्च निवर्तय। यावत्संशयो विपर्ययश्च तावदात्मनिश्चयो न भवति, तस्मात्पुनः पुनः श्रवणेन प्रमाणगतं संशयं छिन्धि। सर्वेषां वेदान्तानामैदंपर्यं प्रत्यगभिन्नब्रह्मणीति निश्चिनु। "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती"त्यादिश्रुतिभ्यः सर्वेषां वेदानां परम्परया साक्षाद्वा ब्रह्मात्मनि

अभ्यास से सन्देह और विपर्यय (भ्रम) को दूर करो। जब तक संशय और भ्रम रहेगा तब तक आत्मा का निश्चय नहीं होता है, इस लिये बार-म्बार श्रवण के द्वारा प्रमाण स्वरूप शास्त्र के विषय में सन्देह को दूर करो। समस्त वेदान्तों का तात्पर्य प्रत्यक् स्वरूप, अद्वितीय ब्रह्म में ही है यह निश्चय करो। "संपूर्ण वेदान्त शास्त्र जिस पद का कथन करते हैं" इत्यादि श्रुतियों से समस्त वेदान्तों की साक्षात् परम्परा से ब्रह्मरूप आत्मा

समन्वय इति सम्यगवधारय। तथा वेदान्तवाक्यैरवधारितस्य तस्यार्थस्य मननेन प्रमेयगतं संशयं भिन्धि। अथ तस्य निदिध्यासनेन च कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरूपां विपरीतबुद्धिं विनाशय।

एवमसकृदनुष्ठीयमानैः श्रवणादिभिः संशयादिभावनामपनीय दृढतरामात्मविद्यां

में ही एकवाक्यता है यह सम्यक् रूप से निश्चय करो। वैसे वेदान्त वाक्यों के द्वारा निर्णीत उस अर्थ के मनन से प्रमेय (ज्ञातव्य) स्वरूप ब्रह्म के विषय में सन्देह को दूर करो। तब उसके निदिध्यासन से कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि की विपरीत बुद्धि को प्रनष्ट करो।

इस प्रकार वारम्वार अनुष्ठित श्रवण आदि साधनों के द्वारा संशय आदि की भावना को हटा कर सुदृढ़ आत्म विद्या को प्राप्त कर के पूर्व कथित

प्राप्य पूर्वोक्तमध्यासं समूलमपाकुरु।

त्वं तु स्वरूपतोऽकर्त्ताऽसि, अभोक्ताऽसि, अशरीरोऽसि, अनिन्द्रियोऽसि, सुखदुःखादिरहितोऽसि, शोकमोहादिषड्ढर्मिरहितोऽसि, एवं त्वं वस्तुतोऽसंसार्यसि। तथाऽपि हन्त! हन्त! रे चित्त! त्वमविद्यया संसारित्वमनुवर्तसे। स्वस्मिन्नविद्ययाऽध्यारोपितमिदं

अध्यास को मूल से नष्ट कर डालो।

तुम तो स्वरूप से कर्त्ता नहीं हो, भोक्ता नहीं हो, शरीरधारी नहीं हो, इन्द्रिय वाले नहीं हो, सुख-दुःख आदि से रहित हो। शोक-मोह आदि छः लहरों से अलग हो। इस तरह वास्तव में तुम संसारी नहीं हो। हे चित्त! तो भी तुम अविद्या से संसारी बनते हो यह बड़े आश्चर्य की बात है। अविद्या के द्वारा अपने में कल्पित इस संसार का संसार से [illegible] ब्रह्म-

संसारित्वमसंसारिब्रह्मविद्ययैव समूलमुन्मूलनीयमित्यस्मिन्नर्थे सम्प्रदायविदा द्रविडाचार्येण प्रोक्तां भाष्यकारेणानूदिताञ्चेमामाख्यायिकां शृणु सावधानम् ।

"कश्चित्किल राजपुत्रो जातमात्र एव मातापितृभ्यामपविद्धो व्याधगृहे संवर्धितः सोऽमुष्य वंशतामजानन् व्याधजातिप्रत्ययो व्याध-

---

विद्या के द्वारा समूल उच्छेद करना चाहिये इस विषय में वेदान्त संप्रदाय के वेत्ता द्रविडाचार्य से कथित और भाष्यकार से अनूदित (अनुवाद किया गया) इस कथा को सावधान हो कर सुनो।

"कोई राजपुत्र जन्म होते ही माता-पिता से परित्यक्त हो कर व्याध के घर में संवर्धित हुआ, वह उसके वंश को नहीं जानता हुआ व्याध जाति का निश्चय कर के व्याध जाति के कर्मों का अनु-

जातिकर्माण्यनुवर्तते। यदा पुनः कश्चित्परमकारुणिको राजपुत्रस्य राजश्रीप्राप्तियोग्यतां जानन्नमुष्य पुत्रतां बोधयति, न त्वं व्याधोऽमुष्य राज्ञः पुत्रः कथञ्चिद्व्याधगृहमनुप्रविष्ट इति। स एवं बोधितस्त्यक्त्वा व्याधजातिप्रत्ययकर्माणि पितृपितामहप्रपितामहाद्यनुगतामात्मनः पदवीमनुवर्तते राजाऽहमस्मीति।

सरण करने लगा। फिर जब कोई परम दयालु व्यक्ति राजपुत्र की राज्य-लक्ष्मी पानेकी योग्यता को जानते हुए उसकी पुत्रता का बोध कराते हैं कि तुम व्याध नहीं हो, तुम तो उस राजा के पुत्र हो, किसी कदर तुम व्याध के गृह में प्रविष्ट हुए हो, इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर के वह राजकुमार व्याध जाति के निश्चय से जो कर्म थे उन्हें छोड़ कर पिता, पितामह, प्रपितामह आदि से अनुगत 'मैं राजा हूं' इस प्रकार की अपनी पदवी का

तथा किलायं परस्मादग्निविस्फुलिङ्गादिवत् तज्जातिरेव विभक्त इह देहेन्द्रियादिगहने प्रविष्टोऽसंसारी सन्नपि देहेन्द्रियादिसंसारधर्ममनुवर्तते, देहेन्द्रियादिसंघातोऽस्मि, कृशः स्थूलः सुखी-दुःखीति परमात्मतामजानन्ना-

अनुसरण करने लगा। जैसे अग्नि के कण अग्नि से निकलते हैं किन्तु वे भी अग्नि जाति के हैं, वैसे ही यह आत्मा परमात्मा से विभक्त भी उसी जाति का है वह असंसारी भी आत्मा इस देह, इन्द्रिय रूप वन में प्रविष्ट हो कर देह, इन्द्रिय आदि संसार के धर्म का अनुसरण करता है कि देह, इन्द्रिय आदि पुञ्ज स्वरूप मैं हूं, अपने परमात्म स्वरूप को नहीं जानता हुआ "मैं कृश हूं, मैं स्थूल हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं इस प्रकार अपने को देह-इन्द्रिय संघात समझता है।

त्मनः । न त्वमेतदात्मकः परमेव ब्रह्माऽस्य-संसारीति प्रतिबोधित आचार्येण हित्वैषणा-त्रयानुवृत्तिश्च ब्रह्मैवास्मीति प्रतिपद्यते ।" इति "बृहदारण्यकभाष्यम्"

एवं वस्तुतोऽसंसारिपरमात्मस्वरूपो जीवस्तथाऽपि देहेन्द्रियादिसङ्घातसम्बन्धेन परमात्मभिन्न इव संसारीव प्रतिभाति । परमात्मा

तुम इस प्रकार का नहीं हो, तुम असंसारी परब्रह्म ही हो, इस प्रकार आचार्य (गुरु) से ज्ञान प्राप्त व्यक्ति, पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा के अनुसरण को छोड़ कर 'मैं ब्रह्म ही हूं' ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है ।" "बृहदारण्यकभाष्य"

इस प्रकार वास्तव में असंसारी परमात्मा स्वरूप ही जीव है तो भी देह इन्द्रिय-संघात (समूह) के सम्बन्ध से परमात्मा से भिन्न की तरह संसारी की तरह प्रतिभासित होता है । पर-

जीवात्मेत्युपाधिनिमित्तको भेदो न पारमार्थिकः। तथाऽपि तदेकत्वमविद्यामोहिता न जानन्ति। अहं संसारी सुखी दुःखीत्यात्मानमभिमन्यन्ते च। अहो! अविद्याया बुद्धिभ्रामणचातुरी।

तत्त्वमसीत्याद्युपनिषद्गतमहावाक्यानां सम्यग्विचारेणेममविद्यामोहमहिमानं विना-

---

मात्मा और जीवात्मा यह भेद उपाधि-कृत है वास्तव नहीं है, तो भी अविद्या से मोहित व्यक्ति उन दोनों की एकता को नहीं जानते हैं। मैं संसारी हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं इस प्रकार अपने को मानते हैं। अविद्या का बुद्धि के भ्रम-सम्पादन कराने का चातुर्य आश्चर्य है।

'तत्त्वमसि' आदि उपनिषत् के महावाक्यों के सम्यक् विचार के द्वारा इस अविद्या-कृत मोह की महिमा को विनष्ट करो। यदि कहो कि महा-

शय । ननु महावाक्यं किमिति चेज्जीवपरयो-
रैक्यप्रतिपादकं वाक्यं महावाक्यमिति तल्ल-
क्षणं जानीहि । 'तत्त्वमसी'ति नवकृत्वः श्वेत-
केतुं प्रत्युद्दालकप्रतिबोधनरूपेण सामवेदा-
न्तर्गतच्छान्दोग्योपनिषदुपादिशति । तत्र मा-
याशबलं सर्वेश्वरं सर्वज्ञं सर्वशक्तिमदपरतन्त्र-
मसंसारि जगत्सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृ ब्रह्म तत्प-

वाक्य क्या है ? तो जीवात्मा-परमात्मा की एकता-
बोधक जो वाक्य है वह महावाक्य है यह महा-
वाक्य का लक्षण जानो । 'तत्त्वमसि' यह नौ बार
श्वेतकेतु के प्रति उद्दालक मुनि प्रतिबोध कराने के
लिये सामवेद स्थित छान्दोग्य-उपनिषत्का उपदेश
करते हैं । वहां मायारूप उपाधि वाला सर्वेश्वर,
सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र, असंसारी, जगत
की सृष्टि, पालन और नाश करने वाला ब्रह्म

देन कथ्यते। देहेन्द्रियपञ्जरमद्ध्यवद्धोऽविद्याशवलोऽल्पज्ञोऽल्पशक्तिः संसारी परतन्त्रः श्रोता जीवस्त्वम्पदेनेर्यते। तयोरैक्यमसिपदेन वोध्यते। तथा चोपाधिविशिष्टौ परजीवौ तत्त्वम्पदयोर्वाच्यार्थौ। तयोस्तु परस्परवैलक्षण्यात्तेजस्तिमिरवदैक्यं न कथमपि सम्भ-

'तत्' पद से कहा जाता है। देह-इन्द्रिय रूप पिंजरे के अन्दर बद्ध, अविद्या रूप उपाधि वाला अल्पज्ञ, अल्प शक्तिमान्,संसारी, परतन्त्र, श्रोता, जीव 'त्वम्' पद से कहा जाता है। उन दोनों की अर्थात् उस ब्रह्म और जीव की एकता 'असि' पद से कहा जाता है। इस प्रकार उपाधि-विशिष्ट परमात्मा और जीवात्मा 'तत्''त्वम्' पद के वाच्य (अभिधेय) अर्थ होते हैं। उन दोनों की एकता तो अन्धकार और प्रकाश की तरह परस्पर विरोध रहने से किसी प्रकार भी संभव नहीं है इस लिये

वि। तस्मात्तयोरुपाधी वैलक्षण्यहेतू मायाऽविद्ये परित्यज्य निरुपाधिके शुद्धे चैतन्यमात्रे गृह्येते लक्षणावृत्या। तथा च तयोः सलक्षणयोरैक्यं नासम्भवि। इयं लक्षणा खलु भागत्यागलक्षणेत्युच्यते। अनया भागत्यागलक्षणया 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्यवत् 'तत्त्वमसी'ति वाक्यमपि परमात्मप्रत्यगात्म-

---

दोनों की उपाधि माया तथा अविद्या जो पारस्परिक विरोध के हेतु हैं उन दोनों उपाधियों को छोड़ कर लक्षणा शक्ति के द्वारा उपाधि-शून्य शुद्ध चैतन्य मात्र गृहीत होता है। उस प्रकार लक्षणा शक्ति से ज्ञेय होने से उन दोनों की एकता असंभव नहीं है। यह लक्षणा भागत्याग लक्षणा कही जाती है। इस भागत्याग लक्षणा से "वही यह देवदत्त है" इस वाक्य की तरह 'तत्त्वमसि' यह वाक्य भी उपाधि-रहित परमात्मा और प्रत्यगात्मा

नोरुपाधिरहितयोरेकत्वमथवाऽखण्डसच्चिदानन्दं भेदत्रयविवार्जितं प्रत्यगाभिन्नं परं ब्रह्म बोधयति । प्रत्यगभिन्नमेकमेवाद्वितीयमद्वैतं ब्रह्म तत्त्वमसीति महावाक्यस्यार्थ इति निष्कर्षः । संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो न सम्भवत्यस्मिन् वाक्ये । अखण्ड एव वाक्यार्थ इति

(जीवात्मा) की एकता का अथवा अखण्ड, सच्चिदानन्द, सजातीय-विजातीय-स्वगत इन तीनों भेदों से रहित प्रत्यक् आत्मा से अभिन्न परब्रह्म का बोध कराता है। प्रत्यक् आत्मा से अभिन्न एक ही, अद्वितीय, अद्वैत ब्रह्म 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का अर्थ है यह सारांश है। इस महावाक्य का संसर्ग (संबन्ध) या विशेषण-विशिष्ट वाक्यार्थ सम्भव नहीं है। अखण्ड (संसर्ग-विशेषण-शून्य) शुद्ध चेतन ही वाक्यार्थ है यह

विद्धि । एवं 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यृग्वेदयजुर्वेदाथर्ववेदान्तर्गतानि महावाक्यान्यपि भागत्यागलक्षणयाऽखण्डसच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव तात्पर्येण बोधयन्ति ।

एवं वेदान्तगतमहावाक्यविचारेणाखण्डार्थनिश्चयं कुरु । स्वस्य कूटस्थब्रह्मरूपतामवेहि । स्वस्यासंसारितामशरीरतां षड्भाव-

---

जानो । इसी तरह 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' ये क्रमिक ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद-स्थित महावाक्य भी भागत्याग लक्षणा से अखण्ड सच्चिदानन्द परब्रह्म का ही तात्पर्य से कथन कर रहे हैं ।

इस प्रकार वेदान्त के महावाक्यों के विचार से अखण्ड अर्थ का निश्चय करो । अपनी कूटस्थ ब्रह्मरूपता को जानो । अपने असंसारित्व तथा

विकारशून्यताञ्चानुभव बाढ़म्। तथा चाहं-परस्माद्भिन्नः संसारी सुखी दुःखी जनिष्ये मरिष्यामीत्यादिभ्रान्तिमपनय।

उक्तं हि—

"यच्चकास्त्यनपरं परात्परं,
प्रत्यगेकरसमात्मलक्षणम्।

शरीर-शून्यता का और अस्तित्वशाली पदार्थमात्र के जो षट् विकार (अस्तित्व, जन्म, वृद्धि, रूपान्तर, ह्रास, नाश) होते हैं उन विकारों के आत्मा में अभाव का अच्छी तरह अनुभव करो। उस प्रकार विचार कर के "मैं परमात्मा से भिन्न हूं, मैं संसारी हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैं जन्म लूंगा, मैं मरूंगा आदि भ्रम को हटाओ। क्योंकि कहा गया है—

"जो परे से भी परे है जिससे परे और कोई भी नहीं है, जो प्रत्यक्, एकरस, सबका आत्मा-

सत्यचित्सुखमनन्तमव्ययं
ब्रह्मतत्त्वमसि भावयात्मनि ॥" इति
"विवेकचूड़ामणिः"

उपाधिसम्बन्धादात्मनः संसारित्वमुपाधिविलयाच्चात्मनोऽसंसारित्वम् । तस्माद्विचारेणोपाधिं विलापय । उपाधिविलापनेन निरुपाधिकब्रह्मरूपो भव ।

स्वरूप तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है, अनन्त और अविकारी है वही ब्रह्म तुम हो ऐसी भावना अपने अन्तःकरण में करो ।" इति
"विवेकचूड़ामणि"

उपाधि के संबन्ध से आत्मा संसारी है और उपाधि के संबन्ध नहीं रहने से आत्मा संसारी नहीं है । इस लिये विचार से उपाधि का विनाश करो । उपाधि के विलीन होने से उपाधि-शून्य ब्रह्मरूप तुम हो जाओ ।

शरीरत्रयमात्मन उपाधिरिति जानीहि। शरीरत्रयसम्बन्धादात्मा सोपाधिकः संसारी भवति। स्थूलं सूक्ष्मं कारणमिति त्रीणि शरीराणि। स्थूलभूतकार्यमिदं दृश्यमानं भोगायतनं स्थूलशरीरमुच्यते।

"पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्।

तीन प्रकार का शरीर आत्मा की उपाधि है यह जानो। तीनों शरीरों के संबन्ध से आत्मा उपाधि-युक्त संसारी होता है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये तीन शरीर हैं। आकाश आदि पञ्चभूतों के अर्थात् भूतों के पञ्चीकरण होने से उत्पन्न, सुख-दुःख भोग करने का घर, प्रत्यक्ष होने वाला यह शरीर स्थूल शरीर कहा जाता है।

"आकाश आदि पञ्चभूतों के अपञ्चीकृत स्वरूप से अर्थात् सूक्ष्म स्वरूप से उत्पन्न, पञ्च प्राण (प्राण-अपान-समान-व्यान-उदान) मन, बुद्धि और दश

अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥"

"आत्मबोधः"

इति सप्तदशतत्त्वात्मकं सूक्ष्मशरीरं विद्धि। अनादिरविद्या च कारणशरीरम्। इदं शरीरत्रयमेव पञ्चकोशात्मकतया तत्र तत्र वर्ण्यते। अन्नमयकोशात्मकं स्थूलशरीरम्।

इन्द्रियां (पञ्च कर्मेन्द्रिय—मुख, हस्त, पाद, मूत्रेन्द्रिय, गुदा और पञ्च ज्ञानेन्द्रिय—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका) इन सब से युक्त भोग का साधन सूक्ष्म शरीर कहलाता है"।

"आत्मबोध"

इस प्रकार सतरह तत्त्व का सूक्ष्म शरीर जानो। अनादि जो अविद्या है वह कारण शरीर है, (क्योंकि स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरों का वह कारण है) ये तीनों शरीर ही पञ्चकोश नाम से स्थान स्थान पर कहे गये हैं। स्थूल शरीर अन्नमय

प्राणमयमनोमयविज्ञानमयकोशात्मकं तु सूक्ष्म-शरीरम् । आनन्दमयकोशात्मकश्च कारणशरीरम् । एवं शरीरत्रयं पञ्चकोशात्मकं विद्धि । आत्मन्यारोपितमिदमुपाधिरूपं शरीरत्रयं विचारेण विलाप्य शरीरत्रयातीतो भव । शरीरसम्बन्धादेव जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु त्रिषु धामसु विश्वतैजसप्राज्ञनाम्ना संक्रीडमानो नाना-

---

कोश है । प्राणमय कोश-मनोमय कोश-विज्ञानमय कोश स्वरूप सूक्ष्म शरीर है । आनन्दमय कोश स्वरूप कारण शरीर है । इस प्रकार तीनों शरीरों को पञ्चकोशात्मक जानो । आत्मा में कल्पित उपाधि स्वरूप इन तीनों शरीरों को दूर कर के तीनों शरीरों से अतीत (परे) हो जाओ । शरीर के सम्बन्ध से ही जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति इन तीनों धामों (अवस्थाओं) में क्रम से विश्व-तैजस-प्राज्ञ संज्ञाओं के द्वारा सम्यक् क्रीड़ा करता हुआ

रूपेण च नानाविधान्भोगान् भुञ्जानश्च जीवः संसारपथमनुवर्तमानो दृश्यते ।

तदुक्तं कैवल्यशाखायाम्—

"स एव मायापरिमोहितात्मा,
शरीरमास्थाय करोति सर्वम् ।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः,
स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति ॥

अनेकानेक रूपों से अनेकानेक भोगों को भोगता हुआ जीवात्मा संसार-मार्ग का अनुसरण करता हुआ दृष्ट होता है। वैसा कैवल्यशाखा में कहा गया है—

"वही माया से मोहित हो शरीर धारण कर के सब कुछ करता है। वही जाग्रत् अवस्था में स्त्री, अन्न, पान आदि विचित्र भोगों से सम्यक् तृप्ति को प्राप्त करता है।

स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता,
स्वमायया कल्पितजीवलोके ।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने,
तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥" इति
तथा च शरीरत्रयसम्बन्धनिबन्धनमिद-
मवस्थात्रयमेव जीवस्य संसारः। अवस्थात्रया-

वही जीव स्वप्न अवस्था में अपनी माया से जीव-लोक की कल्पना कर के सुख दुःख का भोग करता है। वह सुपुप्ति अवस्था में समस्त संसार के विलीन हो जाने पर अज्ञान से आच्छन्न हो सुख रूप की प्राप्ति करता है अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में अपने स्वरूप सुख का अनुभव करता है।"
इति।

उस प्रकार से उन तीनों शरीरों के संबन्ध होने के कारण जो ये तीनों अवस्थाएं होती हैं वही जीव का संसार है। तीनों अवस्थाओं से परे

तीतो भव। तुर्यावस्थामास्थितो भव। तुर्यमेव तव पारमार्थिकं स्वरूपम् । तथा च तुर्यावस्थावस्थानेन संसारातीतो भव।

एवं शरीरत्रयमवस्थात्रयञ्चातिक्रम्य स्वस्वरूपे नित्यशुद्धबुद्धमुक्त आनन्दी भव। ब्रह्मात्मभूतात्मा सन् सर्वभूतात्मभूतात्मा भव।

"अहंब्रह्मास्मिसर्वोऽस्मिशुद्धोबुद्धोऽस्म्यतःसदा।

हो जाओ। तुरीय (समाधि) अवस्था में स्थित रहो। तुरीय अवस्था ही तुम्हारा पारमार्थिक स्वरूप है। इस लिये तुरीय अवस्था की अवस्थिति से संसार से अतीत (परे) हो जाओ।

इस प्रकार तीनों शरीरों और तीनों अवस्थाओं का उल्लंघन कर के अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप में आनन्द प्राप्त करो। तुम ब्रह्म रूप हो कर सर्व भूतमय बनो।

"मैं ब्रह्म हूं, मैं सर्वमय हूं, मैं शुद्ध, बुद्ध हूं

अजः सर्वत एवाहमजरश्चाक्षयोऽमृतः ॥
मदन्यः सर्वभूतेषु बोद्धा कश्चिन्न विद्यते ।
कर्माध्यक्षश्च साक्षी च चेता नित्योऽगुणोऽद्वयः"

"उपदेशसाहस्री"

इति सततं सादरं भावय । शिवोऽस्मि, शान्तोऽस्मि, नित्योऽस्मि, निरञ्जनोऽस्मि, अद्वयोऽस्मि, अविकारोऽस्मि इति च नितान्तं

अतः मैं सदा सब प्रकार से अजन्मा, अजर, अक्षय और अमृत रूप हूं । सर्वप्राणियों में मेरे सिवा बोद्धा (सबका ज्ञाता) कोई नहीं है । मैं कर्मों का द्रष्टा, साक्षी चेतन, नित्य, निर्गुण और अद्वितीय हूं ।"

"उपदेशसाहस्री"

आदर-पूर्वक सदा यह भावना करो। मैं शिव हूं, शान्त हूं, नित्य हूं, उपाधि-रहित हूं, अद्वितीय हूं और अविकारी हूं ऐसा सम्यक् चिन्तन करो ।

चिन्तय ।

"आत्माज्ञानाज्जगद्भाति आत्मज्ञानान्न भासते।
रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद्भासते नहि ॥
अहो ! अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः ।
असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम् ॥
बोधमात्रोऽहमज्ञानादुपाधिः कल्पितो मया ।

"आत्मा के अज्ञान से जगत भासित होता है, आत्मा के ज्ञान हो जाने से वह भासित नहीं होता है, जैसे रज्जु के अज्ञान से सर्प भासित होता है और रज्जु के ज्ञान से सर्प भासित नहीं होता है ।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि मैं अपने को ही नमस्कार करता हूं, विश्व में मेरे समान कोई दक्ष नहीं है कि जिसने बिना शरीर के संस्पर्श किये ही सदा इस विश्व का धारण किया है ।

मैं ज्ञानस्वरूप मात्र हूं, अज्ञान से मैंने

एवं विमृशतो नित्यं निर्विकल्पे स्थितिर्मम ॥"

"अष्टावक्रगीता"

इति च नितरां निर्विकल्पे पदे स्थितिं व्रज। सर्वदैव तत्त्वस्य चिन्तनं कथनमन्योऽन्यं तस्यैव प्रबोधनञ्च कुरु। एवं निरन्तरेण ज्ञानाभ्यासेनाज्ञानतत्कार्यबाधनेन ज्ञाननिष्ठां लभस्व, यां लब्ध्वा ततोऽधिकमपरं लाभं न

उपाधि की कल्पना की है, इस प्रकार के विमर्श करते हुए मेरी निर्विकल्प (उपाधि-शून्य) ब्रह्म में स्थिति हो जाती है।" "अष्टावक्रगीता"

इस तरह सुचारु रूप से निर्विकल्प पद की स्थिति प्राप्त करो। सदा ही तत्त्व का चिन्तन, परस्पर कथन, उसका ही प्रबोधन करो। इस प्रकार निरन्तर ज्ञान के अभ्यास से अज्ञान और अज्ञान के कार्य (विश्व)को बाधित कर के ज्ञान की निष्ठा (स्थिति) लाभ करो, जिसे लाभ कर मनुष्य

मन्यते मनुजः । ज्ञाननिष्ठया च जीवन्मुक्तो-भव । ज्ञाननिष्ठापरिपाकेन जगतो मिथ्यात्व-दर्शनदार्ढ्येन च निरिन्धनो वह्निरिव त्वं स्वय-मेव शान्तिमेधि ब्रह्मणि, महासमुद्रे लवणश-कलमिव च । तथा च सुदीर्घमेवं नितान्त-शान्तं निर्विकल्पं समाधिसुखमास्वादय । एवं क्रमशः—

उससे अधिक दूसरा लाभ नहीं मानता है । ज्ञान-निष्ठा से जीवन्मुक्त बनो । ज्ञान-निष्ठा के परि-पाक से और जगत के मिथ्यात्व-ज्ञान की दृढ़ता से इन्धन-रहित अग्नि की तरह तुम स्वयं ही ब्रह्म में शान्त हो जाओ अर्थात् ब्रह्ममय हो जाओ, जैसे महासमुद्र में लवण-खण्ड तन्मय हो जाता है । उस प्रकार से सुदीर्घ काल तक अतिशय शान्त निर्विकल्प समाधि-सुख का अनुभव करो । इस प्रकार क्रमशः—

"क्षीणायां वासनायां तु चेतो गलति सत्वरम् ।
क्षीणायां शीतसन्तत्यां ब्रह्मन् हिमकणो यथा ॥"

इति वासिष्ठादिष्टरीत्या वासनाजयेन चेतोनाशेन चोच्चां भूमिकामधिरुह्य तामधिवस । तथा च महाभाग्योदयं महादाक्ष्योदयं महोदयमात्मानमापादय ।

"वासना के क्षीण हो जाने पर चित्त झट गल जाता है, हे ब्रह्मन् ! शीत-पुञ्ज के क्षीण हो जाने पर जैसे हिम-कण (पाला का अंश) गल जाता है ।"

इस प्रकार वशिष्ठ जी के द्वारा कथित रीति से वासना के जीतने और चित्त के क्षीण हो जाने से उच्च भूमिका को प्राप्त कर के उसमें तुम निवास करो । उस तरह से महाभाग्यशाली महाचतुर और महान् उदय- (वृद्धि) सम्पन्न अपने को बनाओ ।

रे चित्त ! चिन्मये ब्रह्मणि नितरामेवं निमज्य चिन्मयं भव । वासनाधिक्यादेवं निमङ्क्तुमसमर्थञ्चेत् सर्ववृत्तीनां हठतोनिरोधात्मकेन समाधियोगेन तथा कर्तुं प्रयत्नमाधत्स्व । विषयाकारवृत्तीः साहसेन निरुन्धि । तत्र खेदं मा कुरु । अखिन्नं भूत्वा टिट्टिभवद्-

---

अरे चित्त ! इस प्रकार चैतन्यमय ब्रह्म में अच्छी तरह निमग्न (लीन) हो कर चैतन्यमय हो जाओ । यदि वासनाओं की प्रचुरता से ऐसे तन्मय होने में तुम असमर्थ हो, तो समस्त चित्त-वृत्तियों का हठ-पूर्वक निरोध कर के योगाभ्यास की समाधि-प्रक्रिया से वैसा करने का प्रयत्न करो । साहस से विषय रूप चित्त-वृत्तियों का निरोध करो । उसमें खेद (ग्लानि) मत करो । खिन्न नहीं हो कर के टिट्टिभ (टिटिही

गुरुतरमुद्यमं कुरु।

"उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकविन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥"

"माण्डूक्यकारिका"

इति संसूचितं टिट्टिभोपाख्यानमनुस्मृत्य धैर्य धारय । नैरन्तर्येण तात्पर्येण चाभ्यासं कुरु। लयविक्षेपकषायरसास्वादाः समाधिप्रतिवन्धका

नाम का पक्षी) की तरह जी-तोड़ परिश्रम करो।

"कुश के अग्रभाग से एक एक विन्दु के द्वारा जैसे समुद्र की वृद्धि होती है वैसे ही विना खेद किये अभ्यास से मन का निग्रह (संयम) होता है।"

"माण्डूक्योपनिषत्"

इस प्रकार से सूचित टिट्टिभ की कथा का स्मरण कर के धैर्य धारण करो। निरन्तर तत्परता से अभ्यास करो। लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद ये दोष समाधि के प्रतिवन्धक हैं यह जानो।

इति विद्धि । समाध्यभ्यासकाले तदाक्रमणे सति उपायेन सहसा तदतिक्रमणं कुरु । तत्-परतन्त्रं मा भूः । यदि तत्परवशं स्याः, तर्हि महनीयं समाधिपदमधिरोढुं त्वं कदाऽपि न प्रभविष्यसि । ननु केनोपायेन तदतिक्रमणं स्यादिति चेच्छृणु गौड़पादीयं वचनम्—

"लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।

समाधि के अभ्यास काल में उन लय आदि दोषों के आक्रमण होने पर उपाय के द्वारा बल-पूर्वक उन्हें दबा डालो । उनके अधीन न रहो । यदि उनके अधीन होगे तो अत्यन्त श्रेष्ठ समाधि के पद पर तुम कभी आरूढ़ नहीं हो सकोगे । यदि कहो कि किस उपाय से उसका उल्लंघन किया जाय तो गौड़पादाचार्य के वचन को सुनो—

"इस ज्ञान के अभ्यास और वैराग्य के द्वारा लय में अर्थात् सुषुप्ति में लीन चित्त को जगावे

सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥
नाऽस्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।

अर्थात् आत्मा के विवेक-ज्ञान से युक्त करे। फिर कामों के भोग के लिये विक्षिप्त चित्त को शान्त करे। (ऐसे बार बार अभ्यास करने वाले योगी का चित्त लय से जगाया गया और विषयों से निवृत्त किया गया और समभाव को भी नहीं प्राप्त, किन्तु मध्य अवस्था वाला है) तब वह कषाय (राग) दोष-युक्त है ऐसा जानना। जब चित्त समभाव की प्राप्ति के सम्मुख हो तब उस समभाव प्राप्त चित्त को विचलित नहीं करना चाहिये अर्थात् विषयों के संमुख नहीं करना चाहिये।

समाधि-अवस्था में जो सुख प्राप्त होता है उसमें योगी को आसक्त नहीं होना चाहिये किन्तु विवेक-युक्त बुद्धिसे उससे निःस्पृह रहना चाहिये। निश्चल हो कर भी जब कभी चित्त बाह्य विषय

निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥"इति

एवं प्रतिबन्धकीभूतान् लयादीन् विजित्य वृत्तिनिरोधात्मकं समाधिपदमसम्प्रज्ञातमनिशमधिवस। तथा च नितरामुच्चतरां ज्ञानभूमिकामधिष्ठितं भव। अनेनास्पर्शयोगेन योगिदुर्दर्शेन सुयोगिनां भयनाशकेन कुयोगिनां तु भयजनकेन च जीवन्मुक्तेरनतिशय-

में निकलने लगे तब उसे समाधि रूप प्रयत्न से आत्मा में ही लयलीन करना चाहिये।" इति

इस तरह प्रतिबन्धक स्वरूप लय आदि को जीत करके वृत्ति-निरोध स्वरूप असंप्रज्ञात नाम के समाधि-पद में सदा आरूढ़ रहो। वैसे सुचारु रूप से ज्ञान की उच्चतर भूमिका पर आरूढ़ हो जाओ। योगी के भी दुर्ज्ञेय सम्यक् योग करने वालों के लिये भय-नाशक और विपरीत योग करने वालों के लिये भय-प्रद इस असंपर्श स्वरूप

मनुपममतिमात्रसुकृतलभ्यञ्च विलक्षणं सुखं देवदुर्लभमुपलभस्व।

"स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तम"मिदमुपलभ्य नित्यनिर्वृतः कृतकृत्यो भव। एवं नित्यनिरन्तरनिर्वासनानिर्वृत्तिकनिर्विकल्पकसमाधिसुखरूपोच्चतरभूमिकालाभपर्यन्तमभ्यासादुपरमं मा कार्षीः। ज्ञानी सन्न-

---

योग के द्वारा असीम, अनुपम और प्रचुर धर्म-लभ्य, देव-दुर्लभ सुख का लाभ करो।

"अपने में अवस्थित, शान्त, मोक्ष-युक्त, अकथनीय जो उत्तम सुख है" उसे प्राप्त कर के नित्य सुखी हो कर कृतकृत्य हो जाओ। इस प्रकार नित्य, निरन्तर, वासना-रहित, वृत्ति-रहित, विकल्प-रहित समाधि-सुखरूप उच्चतर भूमिका-लाभ पर्यन्त तुम अभ्यास से उपरति (निवृत्ति) मत करो। तुम ज्ञानी हो कर भी अहंकार नहीं

पि त्वमलं भावमकृत्वैवमुच्चोच्चतरभूमिकारोहणार्थं पौनःपुन्येनाभ्यासपरो भव।

अथ चैतादृशोच्चतरभूमिकालाभस्तव भवतु मा वा भवतु, ज्ञानोदयबलादेव तव सर्वाणि कर्माणि समूलं विनाशमेष्यन्ति। तदुक्तम्—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

करके क्रमिक उच्च-उच्चतर भूमिका के आरोहण करने के लिये बार बार अभ्यास करने में तत्पर रहो।

फिर भी इस प्रकार की भूमिका का लाभ तुम्हें हो अथवा नहीं भी हो किन्तु ज्ञान-उदय के प्रभाव से ही तुम्हारे सारे कर्म समूल विनष्ट हो जायंगे। वैसा कहा गया है–

"जो परे (मूल प्रकृति) है उसके भी परे अर्थात् सबके परे जो शुद्ध ब्रह्म है उस ब्रह्म के सम्यक्

क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥"

इति "मुण्डक०"

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।"

इति च "भगवद्गीता"

आत्मैकत्वज्ञानमुदितं तदुदयसमकालमेव प्रज्वलितो ज्वलनः काष्ठानीव, प्रारब्धातिरिक्तानि सर्वाण्यपि कर्माणि भस्मसात्

ज्ञान होने पर हृदय की ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं, जीव के समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं।" इति "मुण्डक"

"हे अर्जुन ! ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्मसात् कर देती है।"

इति च "भगवद्गीता"

उदय-प्राप्त आत्मा का एकत्व ज्ञान अपने उदय होते ही, प्रज्वलित अग्नि जैसे काष्ठों को जला डालती है वैसे ही प्रारब्ध के अलावे समस्त

कुरुते । प्रारब्धं तु भोगेनैव शाम्यति । तस्माज्ज्ञानोदयमात्रेण तस्य न नाशः । महाभागैर्महाबलैर्ब्रह्मनिष्ठवरिष्ठैरपि प्रारब्धं कर्म निवर्तयितुं न शक्यते । तस्मादुपभोगेनैव तत् क्षपय । यथाप्रारब्धं व्यवहर व्यवहारानुकूलं चेत्तव तत् । व्यवहारहेतुप्रारब्धभेदाज्ज्ञानिनां व्यवहारभेदः स्यात् । व्यवहारभेदेऽपि

कर्मों को भस्मसात् करता है । प्रारब्ध तो भोग करने से ही नष्ट होता है । इस लिये ज्ञान के उदय-मात्र से उनका नाश नहीं होता है । महा भाग्य-शाली महा बलशाली ब्रह्म-निष्ठ महा पुरुषों से भी प्रारब्ध कर्म निवृत्त नहीं किया जा सकता है । अतः उपभोग कर के ही उसे नष्ट करो । यदि वह कर्म तुम्हारे व्यवहार के अनुकूल हो तो उसका प्रारब्धानुसार व्यवहार करो । व्यवहार के हेतु जो प्रारब्ध हैं उनके भेद से ज्ञानियों के व्यवहार में भी भेद

न ज्ञानभेदः, ततश्च न मोक्षभेदः।

तदुक्तम्—

"प्रारब्धकर्मनानात्वाद्बुद्धानामन्यथाऽन्यथा।
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः॥
स्वस्वकर्मानुसारेण वर्तन्तां ते यथा तथा।

होता है अर्थात् एक ज्ञानी के व्यवहार से दूसरे ज्ञानी का व्यवहार भिन्न होता है किन्तु व्यवहार के भेद होने पर भी ज्ञान का भेद नहीं होता है और उससे मोक्ष का भी भेद नहीं होता है। वैसा कहा गया है —

"भिन्न भिन्न प्रारब्ध कर्मों के होने से ज्ञानियों का भी भिन्न भिन्न प्रकार का व्यवहार होता है, इससे ज्ञान के सम्बन्ध में विद्वानों को भ्रम नहीं करना चाहिये।

अपने अपने कर्मों के अनुसार ज्ञानी लोग भी जैसे तैसे व्यवहार करें (उससे कुछ हानि नहीं

अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः॥"
इति "पञ्चदशी"

"कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपौ जनकराघवौ।
वसिष्ठः कर्मकर्त्ता च पञ्चैते ज्ञानिनः समाः॥"
इति च

है) किन्तु समस्त ज्ञानियों का बोध (आत्मज्ञान) और मोक्ष समान है अर्थात् ज्ञान और मुक्ति की विभिन्नता किसी की नहीं है यही स्थिति है।"
इति "पञ्चदशी"

कृष्ण भगवान् भोगी थे, सुखदेवजी त्यागी पुरुष थे, जनक तथा रामचन्द्र ये दोनों राजा थे और वसिष्ठजी कर्मकाण्डी थे, किन्तु ये पांचों समान ज्ञानी थे अर्थात् इन लोगों के प्रारब्धानुसार व्यवहार भिन्न भिन्न हैं किन्तु तत्त्व-ज्ञान में किसी का विभेद नहीं है, सबका ज्ञान समान है।" इति च।

"केऽपि वर्णाश्रमाचारनिष्ठापराः,
मुग्धबालप्रमत्तोपमाश्चापरे ।
रागिणो भोगिनो योगिनश्चेतरे,
ज्ञानिनां लक्ष्यते नैकरूपा स्थितिः ॥
स्वानन्दे सहजे सदा विहरतां-
स्वच्छन्दलीलाजुषां,
निस्सङ्गा च निरर्गला च जगतां-

"कोई ज्ञानी वर्णाश्रम के आचरण में निष्ठाशील होते हैं, दूसरे ज्ञानी लोग अज्ञानी तथा प्रमत्त बालकों की तरह आचरणशील होते हैं, कोई रागी होते हैं, कोई भोगी होते हैं, कुछ लोग योगाभ्यासी होते हैं इस प्रकार ज्ञानियों की एक रूप की स्थिति परिलक्षित नहीं होती है ।

स्वतन्त्रता-पूर्ण लीला करते हुए स्वाभाविक आत्मानन्द में सदा विहार करने वाले ज्ञानियों की सङ्ग-रहित तथा प्रतिबन्ध-रहित जगत के

कल्याणसन्दोहिनी ।
मत्स्यानां सलिलेऽम्बरे च वयसां-
वायोरिवाशामुखे,
दुर्लक्ष्ये पथि योगिनां बहुविधा-
गूढ़ा विचित्रा गतिः ॥"
इति च "स्वाराज्यसिद्धिः"

एवं च विद्वांसः पूर्वकृतकर्मनानात्वाद्भि-
भिन्नसंस्कारा विभिन्नव्यवहाराश्च दृश्यन्ते ।

कल्याणदायक अनेक प्रकार की गूढ़ विचित्र गति होती है जैसे मछलियों की जल में, पक्षियों की आकाश में, वायु की दिशा में, योगियों की दुर्लक्ष्य मार्ग में अनेक प्रकार की विचित्र गूढ़ गति होती है।" इति च "स्वाराज्यसिद्धि"

इस तरह ज्ञानी लोग भी पूर्व जन्म के किये कर्मों के विभेद से भिन्न भिन्न संस्कार वाले तथा भिन्न भिन्न व्यवहार करने वाले देखे जाते

तेषां व्यवहारैकरूप्यं न कदापि भवितुमर्हति कर्मनानात्वादेव । अनेकरूपमन्योन्यभिन्नं व्यवहारं विवेकं वा समाधिं वा कुर्वन्तु ते सर्वेऽपि ज्ञानिनः समा मुक्ताश्चेति बोद्धव्यम् ।

व्यवहारप्रधाना विवेकप्रधानाः समाधिप्रधानाश्चेति ज्ञानिनो जीवन्मुक्तास्त्रिविधा

हैं । अलग अलग कर्म रहने के हेतु से ही उन लोगों का एक प्रकार का व्यवहार कदापि नहीं हो सकता है । वे लोग अनेक प्रकार के परस्पर विभिन्न व्यवहार या विवेक अथवा समाधि करें किन्तु सबके सब समान ज्ञानी हैं और समान रूप से वे मुक्त हैं अर्थात् ज्ञानियों के ज्ञान और मोक्ष में विषमता नहीं है यह जानना चाहिये ।

आचार्य ऋषियों ने जीवन्मुक्त ज्ञानियों का तीन प्रकार से विभाग किया है—व्यवहारप्रधान, विवेकप्रधान और समाधिप्रधान । व्यव-

विभज्यन्ते मुनिभिराचार्यैः। स्वस्वसंस्कारानुरूपमनेकरूपं व्यवहरन्ति व्यवहारिणः केचित् । सर्वत्र सर्वदा सम्यग्ब्रह्मवीक्षणपरा अन्ये जीवन्ति विवेकिनः । तथा चान्ये केचिन्नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठा वर्तन्ते । व्यवहारे विवेके समाधौ च कृतं कर्मैव कारणं कैवल्यभाजां ज्ञानिनामिति वस्तुगतिः । ब्रह्म-

---

हारप्रधान कुछ ज्ञानी लोग अपने अपने संस्कार के अनुसार अनेक प्रकार के व्यवहार करते हैं। दूसरे विवेकप्रधान ज्ञानी लोग सर्वत्र सदा ब्रह्म-ज्ञान में लयलीन रह कर जीवित रहते हैं और वैसे समाधिप्रधान कुछ ज्ञानी लोग नित्य निरन्तर समाधि में निष्ठाशील रह कर वर्तमान हैं। किया हुआ कर्म ही जीवन्मुक्त ज्ञानियों के व्यवहार का, विवेक का और समाधि का कारण होता है यही वस्तु-स्थिति है। ब्रह्म-ज्ञान से ज्ञान

विद्यया तत्समकालमेव ब्रह्मभावमुपगतानां प्रबुद्धानां कर्मणा वा समाधिना वा न किञ्चिदस्ति प्रयोजनं न वा हानिः।

यथोक्तम्—

"न तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
नचास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥"

इति "भगवद्गीता"

"समाधिना कर्मकदम्बकैर्वा,

के समकाल में ही ब्रह्मभाव को प्राप्त ज्ञानी पुरुषों को कर्म से अथवा समाधि से कुछ भी प्रयोजन या हानि नहीं है। जैसा कहा गया है—

"ज्ञानी पुरुषों को कुछ करने से मतलब नहीं है, नहीं करने से भी कुछ मतलब नहीं है, समस्त भूतों में उसको किसी वस्तु का कुछ भी सहारा नहीं हैं।"

इति "भगवद्गीता"

"हे बदरीश भगवन्! समाधि से अथवा

वर्द्धेत हीयेत न तस्य किञ्चित् ।
विलासमात्रं बदरीश युष्मद्-
भक्तस्य कर्माण्यथवा समाधिः ॥"
इति च "श्रीबदरीशस्तोत्रम्"

तथा च प्रारब्धफलककर्मप्राबल्याल्लीलान्यायेन खलु तेषां तत्र प्रवृत्तिः । विक्षेपसमाधयः खलु मनसोऽवस्था भेदाः । इन्द्रियमनःसंस्पर्शशून्यानां ब्रह्मभूतानां तेषां विक्षेपसमाधिभिः कौ नाम हानिलाभौ ।

कर्म-पुञ्ज से भक्तजनका न तो कुछ बढ़ता है और न घटता है; कर्म या समाधि दोनों आपके भक्त के लिये विलासमात्र अर्थात् लीला मात्र हैं ।"
इति च "श्रीबद्रीशस्तोत्र"

इस प्रकार प्रारब्ध-संपादक कर्म के अनुरोध से लीला रूप से ही उनकी उसमें प्रवृत्ति होती है। विक्षेप और समाधि ये दोनोंही मानसिक अवस्था विशेष हैं । इन्द्रिय और मनके स्पर्शसे शून्य ब्रह्मभावको प्राप्त उन ज्ञानियोंका विक्षेप और समाधिसे

उक्तं हि—

"विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः॥"

इति "पञ्चदशी"

एवं सत्यपि वस्तुतत्त्वे लोकसंग्रहार्थमवश्यं कर्म कर्तव्यं ज्ञानिभिरपि नोपरतवृत्तिभिर्भवितव्यं तैरिति केचित्। अथ स्वार्थं वा

हानि और लाभ क्या होते हैं। क्योंकि कहा है—

"जिस लिये मुझे (आत्मा को) विक्षेप नहीं होता है इस लिये मेरी समाधि भी नहीं है, विक्षेप अथवा समाधि ये दोनों अवस्थायें विकारी जो मन है उसके होते हैं।" इति "पञ्चदशी"

इस प्रकार की वस्तु-स्थिति रहने पर भी लोक-शिक्षा के लिये ज्ञानी पुरुषों को भी अवश्य कर्म करना ही चाहिये। कर्म करने से उन्हें निवृत्त नहीं होना चाहिये ऐसा भी कुछ लोगों का मत है।

परार्थं वा कर्म कर्तुं ज्ञानिनो नाधिकारिणः, अज्ञानिनः खलु तत्राधिकारिणः राग एव कर्मबीजं, स कदापि न विदुषां भवितुमर्हति, ततो न विद्वत्सु कस्यचिदपि कर्मणः प्रसक्तिः, ततश्च समाधिनिष्ठैः सर्वदा भवितव्यं तैरित्यन्ये । हन्त ! हन्त ! भ्रान्तिमूलकाविमौ द्वावपि पक्षाविति विजानीहि । "कर्म कुरु,

दूसरे लोगों का मत है कि अपने लिये या दूसरों के लिये कर्म करने के अधिकारी ब्रह्म-ज्ञानी पुरुष नहीं है, ब्रह्म-ज्ञान से रहित व्यक्ति कर्म करने के अधिकारी हैं, कर्म का बीज राग है, ज्ञानी पुरुष को राग कभी नहीं रह सकता है इस लिये ज्ञानी पुरुषों को किसी प्रकार के भी कर्म करने का अवसर नहीं है अतः उन्हें सदा समाधि-निष्ठ रहना चाहिये । बड़े खेद की बात है कि ये दोनों पक्ष भ्रममूलक हैं, यह तुम जानो । 'कर्म करो' 'समाधि

समाधिं कुरु" इति ये नियमकिङ्करान् विदुषो विधित्सन्ति, ते हि नूनं शास्त्ररहस्यानभिज्ञा भ्रान्ताः। शास्त्रानुभवाविप्रकृष्टे स्खलिते पथि सञ्चरन्त्युभयवादिनोऽपि ते। तदुक्तम्—

"तत्त्वज्ञस्य तव प्रशान्तमनसः-
स्नानाशनादिक्रिया-
मात्रे गात्रविधारकेऽधिकृतिरि-

करो' इस प्रकार से ज्ञानी पुरुषों को जो नियमबद्ध करना चाहते हैं वे निश्चित रूपसे शास्त्र के रहस्य से अनभिज्ञ भ्रान्त हैं। उक्त दोनों प्रकार के भी वे वक्ता शास्त्र के अनुभव से दूर हैं और स्खलित मार्ग पर हैं अर्थात् दोनों का कथन ठीक नहीं है। वैसा कहा गया है—

"प्रशान्त चित्त वाले तुझ तत्त्व-ज्ञानी पुरुष के शरीर को कायम रखने वाले स्नान, भोजन आदि कर्म मात्र में अधिकार है यह कोई कहते

त्येके वदन्तीतरे।
कार्यं कर्म जगद्धिताय सततं
तेनेति चात्र ब्रुवे,
द्वाभ्याञ्च स्खलितं यतो विधिरयं-
विज्ञे भवेन्नाज्ञवत् ॥
बद्रीवल्लभ को विधिस्त्वयि दृढ़-
प्रज्ञं नियन्तुं प्रभुः,

हैं। अन्य लोग कहते हैं कि तत्त्व-ज्ञानी को भी संसार की हित-कामना से कर्तव्य कर्म सदा करना चाहिये मैं इस विषय में कहता हूं कि दोनों गलती पर हैं क्योंकि अज्ञानी पुरुष की तरह यह विधान ज्ञानी पुरुष में लागू नहीं है।

हे बद्री-प्रिय! आप में निश्चल बुद्धि रखने वाले पुरुष के शासन करने में कौन विधि वचन लागू हो सकता है! अर्थात् कोई भी लागू नहीं

कर्माण्याचर तद्विधारयिषया
धन्यानि लोकस्य सः ।
अश्रान्तं सुमहान्त्यथेह हिमवत्-
पार्श्वे जगद्विस्मरन्,
ध्याने मज्जतु वा समं द्वयमपि
स्वच्छन्दवृत्तिर्हि वित्"
इति "श्रीवदरीशस्तोत्रम्"
संस्कारवशात्कर्माणि वा समाधौ वा

होता है। लोगों के उद्धार करने की इच्छा से वह ग्लानि-रहित हो कर लोक-मान्य अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण कर्मों का आचरण करें अथवा जगत को भूलते हुए यहां हिमालय पर्वत पर ध्यान में लीन रहें, दोनों ही समान हैं क्योंकि तत्त्व-ज्ञानी पुरुष किसी प्रकार के भी व्यापार करने में स्वतन्त्र हैं।"

इति "श्रीवदरीशस्तोत्र"

इस शरीर के पतन (विनाश) पर्यन्त ज्ञानी

यथारुचि देहपतनावधि प्रवर्तन्ते प्राज्ञाः। तान् तयोरन्यतरस्मिन्नियन्तुं न प्रभवति किमपि प्रमाणम्। निस्त्रैगुण्ये ब्रह्ममार्गे विचरतां महात्मनां को नाम विधिर्वा निषेधो वा। केनापि वा हेतुना कर्मकरणासमर्थं खलु ब्रह्मविदां शरीरमिति ये ब्रुवन्ति, तानुपहसन्ति चाचार्याः।

पुरुष तो संस्कारवश कर्म में अथवा समाधि में इच्छानुसार वर्तमान रहते हैं। उन दोनों में से किसीमें भी नियमपूर्वक ज्ञानियोंके प्रति व्यवहार करनेके लिये कुछ भी प्रमाण नहीं है। निस्त्रैगुण्य मार्ग पर विचरण करने वाले महात्माओं के लिये क्या विधि (कर्तव्य) है अथवा क्या निषेध (अकर्तव्य) है। ब्रह्म-ज्ञानी पुरुष का शरीर किसी हेतु से कर्म करने में असमर्थ है यह जो कहते हैं उन्हें आचार्य लोग हंसते हैं।

"तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिं मन्यन्ते ये महाधियः ।
तेषां प्रज्ञाऽति विशदा किं तेषां दुःशकं वद ॥"

इति "पञ्चदशी"

"दृष्ट्वा दुःखशतं दयार्द्रितमना-
लोकस्य लोके भव-
तत्त्वज्ञोऽपि तमुद्दिधीर्षुरथचेत्
कुर्वीत कर्माश्रमम् ।

"जो महा बुद्धिमान् पुरुष ःतत्त्व बोध को 'क्षयरोग' मानते हैं उनकी बुद्धि बड़ी विलक्षण है, कहो उनके लिये दुःसाध्य क्या है ।

इति "पञ्चदशी"

लोगों के संसार में होने वाले सैकड़ों दुःखों को देख दयार्द्र चित्त हो कर तत्त्व-ज्ञानी व्यक्ति भी उसके उद्धार करने की इच्छा करते हुए यदि कर्म करने के उपयुक्त आश्रम करें तो, हे बद्रीपते !

धन्यं धन्यमतीव तद्वरतमं-
धन्यस्य बद्रीपते।
नो यक्ष्माभवदीक्षणं हृतबलं-
येनापटु स्याद्वपुः॥"
इति च "श्रीबदरीशस्तोत्रम्"

ततश्च कर्मणि वा समाधौ वा यथेच्छं प्रवर्तन्तां प्राज्ञप्रवराः, न तत्र मोक्षसतत्त्वानां

उनका शरीर अत्यन्त धन्य है, धन्य से भी अत्यन्त श्रेष्ठ है। तत्त्व-ज्ञान तो यक्ष्मा रोग नहीं है कि जिससे नेत्र तथा शरीर की शक्ति क्षीण हो कर वह कर्म करने में असमर्थ हो जाय।"

इति च "श्रीबदरीशस्तोत्र"

उस तरह के हेतु रहने से कर्म में अथवा समाधि में अपनी इच्छा के अनुसार तत्त्व-ज्ञानी पुरुष रहते हैं। उन मोक्ष-तत्त्व को प्राप्त करने

तेषां कोऽपि नियमः, मोक्षार्थं न किञ्चिदपि तैरनुष्ठीयते, सकलमपि लीलाकैवल्यमेव तेषामनुष्ठानमिति राद्धान्तः ।

तथा त्वमपि ज्ञानवान् यथा स्वप्रारब्धं व्यवहृत्य वा समाधाय वा स्वकीयं कालं नय। रागद्वेषाभासौ पुरस्कृत्य व्यवहरन्नपि

वालों को उसमें कोई नियम नहीं है। उन तत्त्वज्ञानी पुरुष से मोक्ष के लिये किसी का अनुष्ठान नहीं किया जाता है। उनका अनुष्ठान तो सिर्फ लीला मात्र है यह सिद्धान्त है।

वैसे तुम भी तत्त्वज्ञानी हो, अपने प्रारब्ध के अनुसार व्यवहार कर के अथवा समाधि कर के अपने काल को बिताओ। रागाभास तथा द्वेषाभास (दग्ध बीज की तरह जो अंकुर-जनक न हों ऐसे राग-द्वेष) को रख कर सांसारिक व्यवहार करते हुए भी तुम मोक्षभागी ही होते

त्वं मोक्षभागेव भवसि, नामोक्षभाक् । दृढौ रागद्वेषावेव संसारहेतू, नादृढावाभासरूपाविति विद्धि ।

तदुक्तं भगवता वसिष्ठेन—

"रागद्वेषभयादीनामनुकूलं चरन्नपि ।
अन्तर्व्योमवदत्यच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥"

इति "वासिष्ठम्"

हो, संसारी नहीं होते हो । दृढ़ जो राग और द्वेष हैं वे संसार के हेतु हैं, जो दृढ़ नहीं हैं वैसे आभास रूप राग-द्वेष संसार के हेतु नहीं हैं यह जान लो । भगवान वसिष्ठ ने वैसा कहा है—

"राग, द्वेष, भय आदि के अनुकूल आचरण करते हुए भी आकाश की तरह भीतर जो अत्यन्त निर्मल हैं वह जीवन्मुक्त कहे जाते हैं ।"

इति "वासिष्ठ"

किञ्च महामहिमशालिनां जीवन्मुक्तानामपि यावज्जीवं रागद्वेषयोस्तन्निबन्धनस्य च व्यवहारस्य क्षयो न भवतीति सुविदितं पुराणवेदिनाम्। देहप्रहाणकालीनं वीतहव्यमुनिवचनं यद्वसिष्ठेनैवोक्तं तदत्र दृष्टान्तरूपमिदं शृणु—

"राग नीरागतां गच्छ द्वेष निर्दोषतां व्रज।

किन्तु महा प्रभावशाली जीवन्मुक्तों के भी जीवन पर्यन्त राग, द्वेष और तन्मूलक व्यवहार का क्षय नहीं होता है यह पुराण वेत्ताओं को भली भांति विदित है। देह के पतन समय का वीतहव्य मुनिका वचन जो वसिष्ठजी से ही कथित है वह यहां दृष्टान्त रूप से दिया गया है इसे सुनो—

"हे राग! तुम अब अपनी रागता अर्थात् राग रूपता का परित्याग करो। हे द्वेष! तुम भी

भवद्भ्यां सुचिरं कालमिह प्रक्रीडितं मया ॥"
इति "वासिष्ठम्"

एवं यथा कथमपि यथाप्रारब्धं जीवितशेषमतिवाह्य विमुक्तः सन् विदेहकैवल्यभाग्भव। प्रारब्धशेषपरिक्षये हि तव शरीरपरिक्षयः, ततश्चात्यन्तकी अशरीरमुक्तिः ।

अपनी द्वैपता अर्थात् द्वेषरूपता का परित्याग करो, इस संसार में आप दोनों के साथ मैंने बहुत समय तक खेल किया।" इति "वासिष्ठ"

इस प्रकार जैसे तैसे प्रारब्ध के अनुसार जीवन के शेष भाग को बिता कर विशिष्ट रूप से मुक्त हो कर विदेह कैवल्य भागी बनो। प्रारब्ध से प्राप्त शरीर के नाश होने पर तुम्हारे शरीर का परिक्षय और तब आत्यन्तिक अशरीर मोक्ष अर्थात् विना शरीरकी मुक्ति मिलेगी। इस शरीर

अस्य शरीरस्य तु परिक्षयेऽविद्याकामकर्मणा-मभावात् पुनः शरीरग्रहणं तव न स्यात्। तथा विदेहकैवल्येन साक्षाद्ब्रह्मभूतो भव। संसारस्पर्शशून्यमानन्दघनं नित्यं निरतिशयं पुनरावृत्तिरहितं स्थानमास्थाय तत्र स्वमहिम्नि नितरां विराजस्व, नितरां मोदस्व। तदुक्तम्—

के क्षय होने पर अविद्या, कामना और कर्मों के अभाव हो जाने से तुम्हें शरीर का ग्रहण फिर नहीं करना पड़ेगा। उस प्रकार के विदेह कैवल्य से साक्षात् तुम ब्रह्म रूप बनो। संसार के संपर्क से शून्य आनन्द घन, नित्य, असीम, आवा-गमन-रहित स्थान को प्राप्त कर के अपनी उस महिमा में सुचारु रूप से विराजमान रहो, खूब सुखी रहो। वैसा कहा गया है–

"यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥"
इति "कठ०"

अथ ब्रह्मविद्यया निरस्ताविद्यानां ब्रह्मविदां किं लक्षणमिति चेच्छृणु । ब्रह्मविदां तु ब्रह्मवित्त्वं स्वसंवेद्यं, न परसंवेद्यमिति सि-

---

"हे गौतम ! जैसे पवित्र जल अर्थात् गंगा-जल में मिला हुआ साधारण जल भी वैसा ही शुद्ध हो जाता है, वैसे आत्मतत्त्व के ज्ञाता मुनि का जीवात्मा भी परमात्मा में मिल कर परिशुद्ध हो जाता है ।" इति "कठ०"

यदि कहो कि ब्रह्म-ज्ञान से जिनका अज्ञान विनष्ट हो गया है वैसे ब्रह्मवेत्ता का क्या लक्षण है तो सुनो । ब्रह्मवेत्ताओं का ब्रह्म-ज्ञान तो अपने आप जानने योग्य है, दूसरों के जानने योग्य नहीं

द्धान्तः। ब्रह्मविद्या, तत्प्रयुक्ता निर्वाणनिर्वृतिश्च न शक्यते प्रत्यक्षयितुमन्यस्यान्येन। उक्तं हि—

"मोक्षो हि न परावेद्यो मध्वाद्यास्वादसौख्यवत्" इति।

तथाऽपि बाह्यैर्धर्मैराचरणैश्च कस्यचि·

है यह सिद्धान्त है। ब्रह्म-ज्ञान और ब्रह्म-ज्ञान-नियन्धन मोक्ष-सुख यह दूसरे का दूसरे के अनुभव में आने योग्य नहीं है। कहा है—

"जैसे मधु (सहद) आदि के आस्वादन का सुखानुभव उसके आस्वादनकर्त्ता के सिवाय दूसरे को नहीं होता है वैसे ही मोक्ष रूप सुख भी मुक्त पुरुष के स्वज्ञेय है दूसरे के ज्ञेय नहीं होता है।" इति

तो भी बाह्य धर्मों और आचरणों से अन्य

ज्ञानमहिमाऽनुमीयतेऽन्येन। अत एवोक्तं श्रीभगवता भगवद्गीतासु—
"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥"
इत्यर्जुनप्रश्नस्योत्तरत्वेनास्थितप्रज्ञस्य ब्र·

लोग भी किसी की ज्ञान-महिमा का अनुमान कर लेते हैं। इस लिये श्रीभगवान ने भगवद्गीता में कहा है—

"हे केशव! समाधि में स्थित स्थित-प्रज्ञ व्यक्ति की परिभाषा क्या है अर्थात् किसे स्थित-प्रज्ञ कहते हैं, स्थितधी (स्थितप्रज्ञ) व्यक्ति का भाषण क्या है, उनका बैठना और चलना कैसा है अर्थात् स्थितप्रज्ञ का समस्त व्यवहार कैसा होता है।"

इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न के समाधान रूप में ब्रह्मवेत्ता स्थितप्रज्ञ व्यक्ति का लक्षण कहा

ह्यविदो लक्षणम्—

"प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

गया है—

"हे अर्जुन ! मनोगत समस्त कामनाओं का जब मनुष्य परित्याग कर देता है और अपने आप सन्तुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

दुःखों के उपस्थित होने पर भी जिसका चित्त विचलित नहीं होता है, सुखों में जो निःस्पृह रहता है, जिसे राग,द्वेष, भय और क्रोध नहीं हैं वह स्थितधी (स्थितप्रज्ञ) ज्ञानी कहा जाता है ।

जो व्यक्ति सर्वत्र स्नेह से रहित है, जो

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥"
इत्यादि

अथ तत्रैव निरूपिता ब्रह्मविदां स्वाभाविका गुणाः—

"अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥

सांसारिक सुख-दुःखों को प्राप्त करके न तो उससे खुश होता है और न तो उसका द्वेष करता है उसकी प्रज्ञा (ज्ञान) प्रतिष्ठित (स्थिर) है ।"
इत्यादि

ब्रह्मवेत्ताओं के स्वाभाविक गुण का वहां पर ही निरूपण किया गया है–

"मान का परित्याग, दम्भ का परित्याग, हिंसा का परित्याग, क्षमा, विनम्रता, आचार्य की उपासना, शरीर और मन की पवित्रता, स्थिरता,

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥"

इत्यादयः

अथ गुणातीतस्य लक्षणञ्च तत्रैवोपन्यस्तम्—

मन का संयम, विषयों से इन्द्रियों का वैराग्य, अहंकार का अभाव और जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, व्याधि स्वरूप दुःख रूपी दोषों का अनुस्मरण। पुत्र, स्त्री, गृह आदि में आसक्ति और स्नेह नहीं रखना, अभिलषित वस्तु की प्राप्ति या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति दोनों में सदा समान चित्त रखना।" इत्यादि

इसके बाद गुणों से जो परे हैं उनका भी लक्षण वहीं पर कहा गया है—

"प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।

"हे अर्जुन! सत्त्व-रज-तम इनके कार्यभूत ज्ञान-प्रवृत्ति-मोह के उपस्थित होने पर जो द्वेष नहीं करते हैं और उनके उपस्थित नहीं होने से उनकी आकांक्षा भी नहीं करते हैं।

उदासीन की तरह बैठा हुआ सत्त्व-रज-तम इन गुणों से जो विचलित नहीं होता है, उक्त गुण तो रहते ही हैं यह समझ कर जो स्थिर रहते हैं, अर्थात् गुणों से जो नहीं हिलते हैं।

दुःख-सुख दोनों में जो समान रहते हैं, जो आत्म स्वरूप में अवस्थित रहते हैं। जिन्हें ढेला, पत्थर और सोना सब समान हैं। जिन्हें प्रिय

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥"

इत्यादि

अन्ततो दैवीसम्पत्तिश्च सुष्ठु सम्यगुपवर्णिता विमोक्षहेतुः–

"अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।

और अप्रिय दोनों तुल्य हैं, जिन्हें निन्दा और अपनी स्तुति दोनों तुल्य हैं, जो धीर हैं।" इत्यादि

आखिर में मोक्ष का हेतु दैवी सम्पत्ति का भी सुचारुरूप से सम्यक् वर्णन किया गया है–

"निर्भय रहना, अन्तःकरण की पवित्रता, ज्ञान और निष्काम कर्म में अवस्थिति, दान, इन्द्रियों का निग्रह, यज्ञ, स्वाध्याय (श्रुति-स्मृति का अध्ययन) तपस्या और नम्रभाव।

अहिंसा, सत्य, क्रोध का अभाव, त्याग,

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥"

एते भगवदुक्ता गुणा येषां स्वाभाविकाः खलु विद्यन्ते, ते ज्ञानिनो ब्रह्मनिष्ठा इत्यनुमीयते ।

शान्ति, पिशुनता (चुगलखोरी) का त्याग, प्राणियों में दया, विक्षेप का अभाव, कोमलता, लज्जा और चंचलता का परित्याग ।

तेज, क्षमा, धैर्य, शरीर-मन की पवित्रता, द्रोह का परित्याग और अभिमान का त्याग । हे अर्जुन ! जिन्हें दैवी सम्पत् प्राप्त है उनके इतने गुण होते हैं ।" इति

भगवान से कथित इतने गुण जिनके स्वाभाविक रहते हैं वे ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी हैं यह अनुमान किया जाता है । केवल भगवद्गीता में ही

न केवलं भगवद्गीतासु, अन्यास्वपि बह्वीषु स्मृतिषु श्रुतिषु चैवं तत्र तत्र ब्रह्मविल्लक्षणं सुष्ठु तिरूपितमिति जानीहि । तथा त्वमपि रे चित्त ! तत्तादृशब्रह्मविल्लक्षणलक्षितं भव क्षिप्रम् ।

इति शम् ।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्

ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणश्चोत्तरेण ।

नहीं किन्तु अन्य बहुत सी स्मृति और श्रुतियों में भी स्थान स्थान पर ब्रह्म ज्ञानी पुरुष के लक्षण का विशद रूपसे निरूपण (कथन) किया गया है यह जानो । अरे चित्त ! वैसे तुम भी शीघ्र ब्रह्मज्ञानी के उन लक्षणों से युक्त हो जाओ ।

इति शुभम् ।

यह अमृतरूप ब्रह्म ही पूर्व दिशा में है, ब्रह्म ही पश्चिम दिशा में है, दक्षिण दिशा तथा

अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं
ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥
इति "मुण्डक०"

इति चित्तसंबोधने ज्ञानप्रकरणं समाप्तम् ॥



❀ शुभम् ❀



उत्तर दिशा में ब्रह्म ही है, ऊपर और नीचे फैला हुआ ब्रह्म ही है यह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही विश्वरूप है । इति "मुण्डकोपनिषत्"

इति चित्तसम्बोधन समाप्त ॥



❀ शुभम् ❀





